A CULTURAL STUDY OF THE MAHAPURANA OF PUSPADANTA

(IN HINDI)

A
THESIS
Submitted for the degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY
of
UNIVERSITY OF ALLAHABAD

By
JAI PRAKASH PANDEY

Under the supervision of
PROF. J. S. NEGI

DEPARTMENT OF ANCIENT HISTORY CULTURE & ARCHAEOLOGY
UNIVERSITY OF ALLAHABAD
ALLAHABAD
INDIA

1993

प्रस्तावना

महाकवि पुष्पदन्त दसवीं शताब्दी के एक प्रमुख जैन साहित्यकार एवं महान चिन्तक थे। उन्होंने तीन महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की:— महापुराण, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ, जिनमें महापुराण विशेष महत्वपूर्ण है। महापुराण उनकी प्राप्य रचनाओं में सर्वप्रथम और विशाल रचना है। इसमें 102 सन्धियाँ हैं, जो 1907 कड़वकों में पूर्ण हुई हैं। यह विशाल ग्रंथ दो भागों में विभक्त है:— आदिपुराण और उत्तरपुराण। आदिपुराण प्रथम 37 सन्धियों में समाप्त हुआ है जिसमें आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ और प्रथम चक्रवर्ती भरत की जीवन- गाथाएँ वर्णित हैं। उत्तर पुराण में बाद की 65 संधियाँ हैं जिनमें शेष तेइस तीर्थंकरों और उनके समकालीन अन्य पुराणों के जीवन- चरित्र का वर्णन है। इस विशाल ग्रंथ की रचना पुष्पदन्त ने राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण (तृतीय) के महामात्य भरत के संरक्षण में रहकर की थी। इसकी कथाओं का भारत के जनजीवन के उत्थान एवं पतन में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आज भी यहाँ की अधिकांश जनता इन कथाओं को बड़ी श्रद्धा एवं भक्तिभाव से पढ़ती तथा श्रवण करती है।

पुष्पदन्त की रचनाओं के आधार पर समसामयिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन का प्रयास बहुत कम विद्वानों ने किया है। सुदर्शन मिश्र ने इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रयास किया है परन्तु उन्होंने

आलोचनात्मक ढंग से ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर साक्ष्यों का विश्लेषण नहीं किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने पुष्पदन्त के ग्रंथों का सांस्कृतिक अध्ययन की अपेक्षा काव्यगत विशेषताओं के अध्ययन को अधिक महत्त्व दिया है। राजनारायण पाण्डेय का भी प्रयास लगभग इसी प्रकार का है। श्रीमती रत्ना नागेश श्रीयन ने महापुराण का आलोचनात्मक अध्ययन गम्भीरता के साथ प्रस्तुत किया है और इस सम्बन्ध में उनका प्रयास श्लाघनीय कहा जा सकता है परंतु सामसामयिक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का उनके ग्रन्थ में भी अभाव है। प्रस्तुत शोध- प्रबन्ध में पुष्पदन्त के महापुराण को केन्द्र में रखकर तत्कालीन भारतीय संस्कृति को समझने का प्रयास किया गया है। इस शोध- प्रबन्ध में साक्ष्यों को परम्परागत प्रस्तुत करने की अपेक्षा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित किया गया है। अतः साक्ष्यों को उनके संदर्भ से बिना अलग किये हुए ऐतिहासिक तथ्यों के आलोक में उनका अध्ययन किया गया है।

प्रस्तुत शोध- प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है जिनमें क्रमशः प्रथम अध्याय में महाकवि पुष्पदन्त के जीवन परिचय तथा उनकी प्राप्य कृतियों पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में सामाजिक संगठन का अध्ययन किया गया है, इसमें कर्ममूलक सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। इस अध्याय में वर्णाश्रम व्यवस्था, विवाह, संस्कार एवं पुरुषार्थ पर विचार किया है। इसमें चारों वर्णों को धर्मानुकूल कार्य करने का संकेत है। धर्मानुकूल कार्य करने से मोक्ष की प्राप्ति स्वीकार की गयी है।

विवाह के संदर्भ में वर को उच्चकुलीनता पर विशेष बल दिया गया है। सगोत्र तथा प्रतिलोम विवाह का निषेध किया गया है, परन्तु अनुलोम विवाह को स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बहुपत्नीत्व को शौर्य का द्योतक माना गया था । प्रत्येक व्यक्ति को उपनयन संस्कार से युक्त होना माना गया था। पुरुषार्थ के संदर्भ में मोक्ष पर विशेष बल दिया गया है। तृतीय अध्याय में सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के विषय में विचार किया गया है। सामाजिक स्थिति के संदर्भ में खान-पान में अन्न, शाक, सब्जी, फल, मसाले आदि के सेवन का वर्णन है। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शंकित, अभिहित, उद्दिष्ट एवं कृमि- कीट आदि प्रकार के आहारों को ग्रहण करने का निषेध है। परिधान में सूती, ऊनी, रेशमी, कढ़े हुए तथा सिले हुए और बिना सिले हुए उपयोग में आने वाले वस्त्रों का वर्णन है। अलंकरण के सम्बन्ध में स्त्री एवं पुरुष दोनों ही अपने को विभिन्न अलंकारों से अलंकृत करते थे । इस सम्बन्ध में नख से शिख तक प्रत्येक अंगों में धारण किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के आभूषणों का उल्लेख है, वहीं नाक में पहने जाने वाले (नथिया आदि) किसी प्रकार के आभूषण पहनने का उल्लेख नहीं है। शिक्षा और साहित्य को मानव- जीवन में अत्यंत उपयोगी माना गया है । उस काल के शिक्षा एवं साहित्य के पाठ्यक्रम में चार वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण, मीमांसा, न्यायशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, गान्धर्वशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष-

शास्त्र, ज्योतिशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों के अध्ययन के साथ - साथ लिपि, पुराण, पहेली आदि का भी अध्ययन किया जाता था। महापुराण से विदित होता है कि उनके समय में स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न किया गया और उनका भी उपनयन संस्कार अपेक्षित माना गया। इस काल में बहुपत्नीत्व का विशेष महत्व था। पर्दा प्रथा तथा सती प्रथा का भी प्रचलन था। आर्थिक जीवन के विषय में मनुष्य का प्रधान उद्देश्य धर्मानुकूल अर्थार्जन करना था। कृषि एवं पशुपालन के साथ- साथ वाणिज्य एवं व्यापार को विशेष महत्व दिया गया है। विदेशों से भी व्यापार का वर्णन मिलता है। वस्तु विनिमय के सम्बन्ध में "दीनार" का उल्लेख मिलता है।

चतुर्थ अध्याय में तत्कालीन राजनय एवं राजनीतिक स्थिति का अध्ययन किया गया है। राजा को महत्वपूर्ण मानते हुए वंशानुगत राजतन्त्र को स्वीकार किया गया है। इसमें सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संस्था और द्वैधीभाव के साथ- साथ स्वाभिमान तथा नीतिनिपुणता पर विशेष बल दिया गया है। जहाँ एक ओर राजा के गुणों का उल्लेख किया गया है वहीं दूसरी ओर राजा के दोषों तथा उससे होने वाली हानियों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है। राजा को नारी, द्यूत, मदिरा, आखेट, अपव्यय, कठोर वचन और कठोर दण्ड इन सप्त व्यसनों से बचना चाहिए तथा काम, क्रोध, मद एवं लो लोभ से भी रहित होना चाहिए। प्रजा- रक्षा राजा का

महत्वपूर्ण कर्तव्य माना गया है। राज्य प्रशासन में सप्तांग सिद्धान्त को स्पष्टत: स्वीकार किया गया है :- स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, धन, सुहृद, या सुधि, बल एवं दुर्ग। इसमें पूर्ववर्ती परम्परागत नियमों को स्वीकार नहीं किया गया है। सामान्यतया राजा अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य से अधिक महत्वपूर्ण ऊँची-ऊँची उपाधियाँ धारण करते थे। राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से मंत्री, पुरोहित, सेनापति, श्रेष्ठी, धर्माधिकारी, दूत एवं गुप्तचरों की नियुक्ति राजा करता था। राज्य में सामंतों का वर्चस्व था। सैन्य संगठन में हस्ति सेना को महत्वपूर्ण माना जाता था। प्राय: युद्ध साम्राज्य विस्तार के साथ-साथ आत्मसम्मान तथा नारी के लिए होता था।

पंचम अध्याय में धार्मिक स्थिति का अध्ययन किया गया है। मानव जीवन में धर्म को महत्वपूर्ण माना गया है। धर्मानुकूल कर्म ही व्यक्ति के लिए मोक्ष प्राप्ति में सहायक माना गया है। धार्मिक स्थिति का विवेचन सैद्धान्तिक और लौकिक पक्ष को ध्यान में रखकर किया गया है। इसके अन्तर्गत् दार्शनिक पक्ष को भी स्पष्ट किया गया है।

मैं सम्पूज्य गुरुवर्य प्रो० जे० एस० नेगी का प्रचुर ऋणी हूँ जिनके विद्वतापूर्ण निर्देशन में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का प्रणयन हुआ है। इसके साथ ही साथ प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इ० वि० वि०, इलाहाबाद के अवकाश प्राप्त वरिष्ठ पूज्य गुरुजनों प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, प्रो० बी० एन० एस० यादव, प्रो० उदय नारायण राय, प्रो० सिद्धेश्वरी नारायण राय का भी मैं आभारी हूँ जिनके व्यक्तित्व एवं कृतियों से मुझे प्रेरणा मिली है। इसी विभाग के अध्यक्ष पूज्य प्रो० एस० सी० भट्टाचार्य, प्रो० विद्याधर मिश्र, प्रो०

रामकृष्ण द्विवेदी, प्रो० गीता देवी, प्रो० डी० मण्डल ने समय- समय पर अपने सुझावों के द्वारा मेरा मार्गदर्शन किया है, उनके प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इसके अतिरिक्त मैं पूज्य गुरुजनों डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी डॉ० जय नारायण पाण्डेय, डॉ० [श्रीमती] रंजना वाजपेयी, डॉ० ओम प्रकाश यादव, श्री बी० बी० मिश्र, डॉ० जी० के० राय, डॉ० हरि नारायण दुबे एवं डॉ० चन्द्रदेव पाण्डेय, का अनुगृहीत हूँ जिनके निरन्तर सानिध्य में रहकर मैंने शोध - प्रबंध सम्बन्धी अध्ययन पूर्ण किया है। विभाग के अन्य गुरुजनों का भी मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने किसी न किसी रूप में मेरे शोध- कार्य में सहयोग प्रदान किया है।

डॉ० राजेन्द्र मिश्र, श्री सीताराम त्रिपाठी, श्री महन्तप्रसाद तिवारी, डॉ० रामनिहोर पाण्डेय, डॉ० विमलचन्द्र शुक्ल, श्री अव्यक्त राम मिश्र एवं श्री राम मूर्ति पाठक, डॉ० देवी प्रसाद मिश्र का भी मैं उपकृत हूँ जिनके सुझावों के अभाव में मेरा शोध संबन्धी कार्य पूर्ण न हो पाता। मित्र वर्ग में विनोद कुमार पाण्डेय, सन्तोष कुमार पाण्डेय, हरिश्चन्द्र दुबे, अशोक कुमार पाण्डेय, अनिल कुमार सिंह, लालचन्द्र पाण्डेय, राम बरन शुक्ल, रमाकान्त तिवारी, अशोक कुमार सिंह, लालमणि मिश्र एवं शैलेन्द्र कुमार मिश्र ने मुझे प्रस्तुत रचना के लिए सतत् जागरूक रखा, एतदर्थ मैं इन सबके प्रति आभारी हूँ।

मैं पूज्य पिता पं० राजितराम पाण्डेय, पूजनीया माता श्रीमती इसराजी पाण्डेय, अग्रज भ्राता श्री ओमप्रकाश पाण्डेय तथा श्री वेदप्रकाश पाण्डेय द्वारा सतत् प्राप्त आशीर्वचन के लिए नतमस्तक हूँ। अनुज भ्राता हृदय नारायण पाण्डेय, कमोल प्रसाद पाण्डेय एवं मारकण्डेय पाण्डेय साधु -

वाद के पात्र हैं, जिन्होंने मुझे सदैव विद्याभ्यास की दिशा में सहायता प्रदान करते रहे, अतः उनकी जागरूकता एवं विद्यानुरागी वृत्ति के प्रति कृतज्ञ हूँ।

शोध - प्रबन्ध के लेखन में प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, गंगानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठ, सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी, बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी आदि पुस्त-कालयों से मुझे विशेष रूप से सहायता मिली। इसके लिए मैं इनके अधि-कारियों तथा कर्मचारियों को धन्यवाद देता हूँ।

शोध-प्रबन्ध का अल्प समय में स्वच्छतापूर्ण टंकण कार्य सम्पन्न करने के लिए श्री भाई राम यादव का मैं विशेष आभारी हूँ।

जय प्रकाश पाण्डे

(जय प्रकाश पाण्डेय)

विजयादशमी
24 अक्टूबर, 1993
इलाहाबाद

विषय - सूची

महाकवि पुष्पदन्त एवं उनका कृतित्व

पुष्पदन्त का जीवन परिचय -

महाकवि पुष्पदन्त काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे[1]। उनके पिता का नाम केशवभट्ट और माता का नाम मुग्धादेवी था[2]। ये दोनों पहले शिव के उपासक थे, परन्तु तत्पश्चात् किसी जैन गुरु के उपदेश से इन्होंने जैन-धर्म ग्रहण कर लिया और अपनी अवस्था की अन्तिम बेला में जैन- सन्यास-विधि से शरीर त्याग किया[3]।

पुष्पदन्त की प्राप्त रचनाओं में जैन-धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन और जैनेतर मतों का खण्डन मिलता है[4]। जिससे वे जैनमतानुयायी सिद्ध होते हैं। उन्होंने स्वयं अपने को जिन-पद-भक्त तथा जिन-चरण-कमलों की भक्ति में लीन बताया है[5] और शुद्ध एवं उज्ज्वल केवलज्ञान प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की है[6]।

कुछ विद्वानों का कथन है कि पुष्पदन्त भी अपने माता- पिता की भाँति जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में शैव रहे होंगें। इस सन्दर्भ में जैन साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् नाथूराम प्रेमी और राज नारायण पाण्डेय का कथन है कि "कवि के आश्रयदाता महामात्य भरत ने जब उनसे महापुराण के रचने का आग्रह किया, तब कहा कि तुमने पहले भैरव नरेन्द्र को माना है और उसको पर्वत के समान धीर-वीर और अपनी श्रीविशेष से सुरेन्द्र को जीतने वाला वर्णन किया है। इससे जो मिथ्यात्व- भाव उत्पन्न हुआ है, उसका यदि तुम प्रायश्चित कर डालो, तो तुम्हारा परलोक सुधर जाय[7]। इससे भी प्रकट होता है कि पुष्पदन्त पहले शैव रहे होंगे और शायद उसी अवस्था में उन्होंने भैरव नरेन्द्र की कोई यशोगाथा लिखी होगी।[8]" नागकुमारचरित के अन्त में कवि ने और लोगों के साथ अपने माता-पिता की भी कल्याण - कामना की है और वहाँ इस बात को स्पष्ट

किया है।[9] इससे इंगित होता है कि कवि स्वयं भी पहले शैव थे। स्तोत्र-साहित्य में "शिवमहिमान् - स्तोत्र" बहुत प्रसिद्ध है और उसके कर्त्ता का नाम भी "पुष्पदंत" है। परन्तु राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में शिवमहिमन् का एक श्लोक उद्धृत किया है। अतएव उसका समय राजशेखर से पहले का होना चाहिये और तब अभिमान मेरु पुष्पदन्त से शिवमहिमान् के कर्त्ता भिन्न और पूर्ववर्ती होने चाहिये।

कवि की रचनाओं में अनेक स्थलों पर शिव का उल्लेख मिलता है।[10] इससे प्रकट होता है कि पुष्पदन्त भी अपने माता- पिता की भाँति पहले शैव रहे होंगे, तत्पश्चात् उन्होंने जैन धर्म ग्रहण कर लिया होगा[11]। यद्यपि उपर्युक्त विद्वानों ने कुछ तथ्यों के आधार पर पुष्पदन्त के शैव होने का अनुमान किया है, फिर भी यह विचारणीय है कि महाकवि ने किसी गुरु द्वारा अपने माता-पिता के जैन धर्म में दीक्षित किये जाने का उल्लेख तो किया है, परन्तु अपने सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं किया है। इससे स्पष्ट होता है कि महाकवि को बचपन से ही अपने माता-पिता द्वारा जैन धर्म की शिक्षा- दीक्षा मिलती रही होगी और जैसे- जैसे उनका ज्ञान बढ़ा होगा, जैन धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा भी दृढ़तर होती गयी होगी।

महाकवि के माता- पिता किसी "दिगम्बर जैन गुरु" के उपदेश से जैन हुये थे।[12] उनकी रचनाओं में श्वेताम्बर मान्यताओं की आलोचना तथा दिगम्बर मान्यताओं का प्रतिनिधित्व पाया जाता है।[13] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि माता के विचारों से प्रभावित होने के कारण महाकवि पुष्पदन्त स्वयं दिगम्बर सम्प्रदाय के मानने वाले हो गये। महाकवि पुष्पदन्त शरीर से अत्यन्त कृश, बाल चन्द्र की भाँति कृश, श्यामल और अत्यन्त कुरूप थे।[14] परन्तु उनका मुख सदैव नवीन कमल के सदृश प्रफुल्लित रहता था।[15] उनकी दन्तपंक्ति सम्पूर्ण वातावरण को धवलित करने की कान्ति से युक्त थी[16] और वे स्वयं तो सरस्वती रूपी सरिता के तरंग ही थे।[17]

पुष्पदन्त का एक नाम खण्ड[18] था। सम्भवत: यह नाम उनका घर का या बोलचाल की भाषा में रहा होगा। महाराष्ट्र में खण्डूजी, खंडोबा नाम अब भी रखे जाते हैं और खण्ड यह संस्कृत स्कन्द का प्राकृत रूप है। अभिमानमेरु,[19] अभिमानचिह्न,[20] काव्यरत्नाकर,[21] कविकुलतिलक,[22] सरस्वतीनिलय,[23] कव्वपिसल्ल,[24] (काव्यपिशाच या काव्यराक्षस) ये उनकी पदवियाँ थीं। ये सभी विशेषण उनके पाण्डित्य और कवित्वशक्ति के अनुरूप ही प्रतीत होते हैं।

महाकवि असाधारण प्रतिभा के धनी थे। उन्हें वाणी रूपी कामधेनु सिद्ध थी।[25] उन्होंने अपनी रचनाओं में वैदिक, सांख्य, चार्वाक, क्षणिकवाद आदि मतों का विद्वतापूर्ण खण्डन कर जैन धर्म के गूढ़ तत्वों का निरूपण किया है।[26] उनकी रचनाओं में अनेक प्रदेशों, प्राचीन नगरों, पशुओं, पक्षियों, जलचरों, वृक्षों, पुष्पों, फलों, सरिताओं, देशी- विदेशी मानव जातियों, संगीत, नृत्य, संगीत-गोष्ठी, वाद्ययन्त्रों, राजकुमार तथा राजकुमारियों को सिखायी जाने वाली अनेक विद्याओं और कलाओं, राजाओं को द्यूत- क्रीड़ा तथा विलास एवं राज-सभा की व्यवस्था और अनुशासन सम्राट के सम्मुख सभा के शिष्टाचार, नारियों के लक्षण, आभूषणों, मानव शरीर के आकार- प्रकार तथा उनकी जातियों एवं आयु, तत्कालीन सामाजिक रीतिरिवाजों तथा विश्वासों, गोस्पर्श, पीपल-स्पर्शादि शुभ- फलदायक तथा काक के सिर पर बैठने के अशुभ, फलदायक अन्ध-विश्वासों, ग्रहों की गति तथा अन्य ग्रहों पर उनके प्रभाव, अनेक देशों के अवलोकन आदि के उल्लेख उनके गहन अध्ययन और अगाध ज्ञान के परिचायक हैं।[27]

महाकवि के अड़तालीस प्रशस्ति- पदों में छ: की भाषा प्राकृत और शेष की संस्कृत है, जिससे ज्ञात होता है कि वे संस्कृत में भी रचना करने की क्षमता रखते थे। पी0 एल0 वैद्य के अनुसार उन्हें संस्कृत का अगाध ज्ञान था, लेकिन प्राकृत और अपभ्रंश की जानकारी उससे कम न थी बल्कि अधिक ही थी।[28]

महाकवि काव्य के साक्षात् ज्ञाता थे[29]। उन्होंने चौबीस जिनेन्द्र माताओं द्वारा अलग- अलग देखे गये एक ही प्रकार के स्वप्न का वर्णन भिन्न- भिन्न तरह से प्रस्तुत कर[30] अपने महान काव्य- कौशल का परिचय दिया है[31]।

महाकवि अन्त:इच्छा से जिनेन्द्र चरणों के भक्त, धर्म में आसक्त, व्रतों से संयुक्त, उत्तम सात्विक और शंकारहित थे[32]। वे धन को तृण के समान तुच्छ समझते थे और निष्कारण स्नेह, पण्डित-मरण, समाधि, बोधि तथा विमल केवल ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा रखते थे[33]।

महाकवि ने यद्यपि मुनिदीक्षा नहीं अपनायी थी, फिर भी उनके विचार, भाव तथा रहन-सहन के स्तर किसी मुनि से कम नहीं थे। उन्होंने "महापुराण" के अन्त में आत्म- परिचय देते हुये लिखा है कि सिद्धबिलासिनी के मनोहर दूत, मुग्धादेवी के शरीर से संभूत, निर्धन एवं धनी लोगों को समान रूप से देखने वाले, सभी जीवों के आकरण मित्र, शब्दसलिल से अपने काव्य- स्तोत्र की श्रीवृद्धि करने वाले, केशव- पुत्र काश्यपगोत्रीय, सरस्वतीबिलासी, शून्य- महलों तथा देवालयों में निवास करने वाले, कलि के प्रबल पाप- पटलों से रहित, गृहहीन, पुत्रकलत्रहीन, सरोवरों, वापिकाओं और नदियों में स्नान करने वाले, पुराने वस्त्र और बल्कल धारण करने वाले, धूल- धूसरित अंगो वाले, दुर्जनों के संग से दूर रहने वाले, जमीन पर सोने वाले और अपने ही हाथों को ओढ़ने वाले, पण्डित-मरण की प्रतीक्षा करने वाले, मन में अर्हत- धर्म का ध्यान करने वाले, मान्यखेट नगर में निवास करने वाले, भरत मन्त्री द्वारा आदरणीय, अपने काव्य प्रबन्ध से लोगों को प्रसन्न करने वाले और जिन्होंने पाप रूप कीचड़ को धो डाला है, ऐसे अभिमानमेरु महाकवि पुष्पदन्त ने इस काव्य को भक्तिपूर्वक जिन-पद-कमलों में निरत रहते हुए क्रोधन संवत्सर की आषाढ़ सुदी दसवीं को रचा[34]।

उपर्युक्त सन्दर्भों से महाकवि स्व आश्रयदाता महामात्य भरत के आश्रय में स्नान एवं विलेपन की सम्पूर्ण सामग्रियाँ तथा आभूषणादि सुलभ रहने पर भी,[35]

उनसे निर्लिप्त रहे जान पड़ते हैं । उन्हें तो केवल स्नेह में आसक्ति थी और इसीलिये वे महादानशाली एवं परोपकारी भरत के विशाल भवन में निवास करते थे । उनकी कविता भी जिन-चरणों की भक्ति हेतु स्फुरायमान हुई है, वृत्त के लिये नहीं।[37]

महाकवि में लोककल्याण की भावना कूट- कूट कर भरी है। उन्होंने "महापुराण" में एक स्थल पर[38] पृथ्वी पर दुःखों के विनाश होने, बादल-बरसने, किस्म- किस्म के धान पकने, वीर भगवान का शासन बढ़ने, राजा श्रेणिक को नरक से बाहर करने और उनके तीर्थंकर होने पर इन्द्र द्वारा जन्माभिषेक होने, प्रजा की श्रीवृद्धि होने, राजा के पुलकित होने, देश में सुभिक्ष होने, लोगों के मिथ्यात्व नष्ट होने, अपने आश्रयदाता भरत, गुणवन्तों, [illegible], भगवन्तों, सन्त दंगइय, संत संतइय और जिन- चरणों में प्रणाम करने वालों तथा गर्वरहित समस्त भव्यजनों को शान्ति प्राप्त होने की कामना की है। "णायकुमारचरिउ" के अन्त में भी उन्होंने प्रजा और राजा के आनन्दित होने तथा स्वेच्छानुसार वर्षा होने की कामना व्यक्त की है।[39] इसी प्रकार जसहरचरिउ के अन्त में उन्होंने कहा है कि समय पर वर्षा हो, मेदिनी तृप्त होकर धन- धान्य प्रदान करे, गोपिनी विलास करें, कामिनी नृत्य करें, मार्दल (भेरी) घूमें, मंगल का प्रसार हो, शान्ति फैले, दुःखों का विनाश हो, नर- नारियों से धर्म के प्रति उत्साह बढ़े और राजा के साथ प्रजा भी आनन्द करें।[40]

महाकवि बड़े ही स्वाभिमानी थे । उन्होंने अपने लिए स्वयं "अभिमानमेरु" "अभिमेरुनामांकित", "अभिमान-रत्न-निलय" आदि विशेषणों का प्रयोग किया है।[41] जिनसे उनके स्वाभिमान का भान होता है। अम्माइया और इन्द्रराज नामक दो पुरुषों ने जब उनसे पूछा कि भरत की विशाल नगरी में क्यों नहीं चलते, तब उन्होंने कहा कि "गिरि-कंदराओं में कसेरु घास खाकर रहना अच्छा है, किन्तु दुर्जनों की कलुष - भावांकित टेढ़ी भृकुटी देखना अच्छा नहीं । माता के उदर से जन्म लेते ही मर जाना अच्छा है, लेकिन प्रातःकालीन बेला में किसी नृपति के

टेढ़े नेत्र देखना और दुर्वचन सुनना अच्छा नहीं । मैं अभिमान के साथ यहीं (निर्जन वन में) मर जाना अच्छा समझता हूँ ।"[42] महाकवि की दृष्टि में सम्मान सर्वोपरि है, मान- सम्मान के भंग की स्थिति में जीवित रहने की अपेक्षा मर जाना श्रेयस्कर है।[43] पर- प्रदत्त भूमि की अपेक्षा स्वभुजार्जित वन में हल चलाना अच्छा है । दूसरे के महार्घ - प्रभा वाले धवल- महल की अपेक्षा गिरि- कुहर श्लाघनीय है।[44]

महाकवि पुष्पदन्त में राजलक्ष्मी और दुर्जनों के प्रति अत्यन्त घृणा का भाव परिलक्षित होता है। उन्होंने बड़े कटु शब्दों में इन दोनों की निन्दा की है[45]। वे राजलक्ष्मी के दुर्गुणों का वर्णन करते हुये कहते हैं कि राजलक्ष्मी ढुरते हुए चँवरों की हवा से सारे गुणों को उड़ा देती है, अभिषेक के जल से सुजनता को धो डालती है और विवेकहीन बना देती है, दर्प से फूली रहती है, मोह से अन्धी रहती है, मरणशीला होती है, सप्तांग राज्य के बोझ से लदी रहती है, पिता- पुत्र दोनों में रमण करती है, विष की सहोदरा है, जड़ों में अनुरक्त तथा विद्वज्जनों से विरक्त रहती है।[46अ]

महाकवि दुर्जनों की भर्त्सना करते हुये कहते हैं कि दुर्जन मेघाच्छादित दिन की भाँति प्रकाशरहित, इन्द्रधनुष के समान निर्गुण, जीर्ण- गृह के समान मलिन- चित, सर्प के समान छिद्रान्वेषी, जड़वादियों के सदृश नीरस, राक्षस के सदृश दुरा- चारी और परोक्ष में श्रेष्ठ कवियों की भी भर्त्सना करने वाले होते हैं।[46ब] फिर उनकी तुलना कौवे और उल्लुओं से करते हुये कहते हैं कि जिसमें कीड़े बिलबिला रहे हैं और दुर्गन्ध निकल रही है, ऐसे शव को छोड़कर विवेकशून्य काले कौवे क्या सुन्दर स्थान में रमण कर सकते हैं, बिना कारण ही अत्यन्त रूष्ट रहने वाले दुर्जन स्वभाव से ही दोषों को अपनाते हैं। उल्लुओं को यदि तम का नाश करने वाला और तेजस्वी किरणों वाला भास्कर (सूर्य) नहीं अच्छा लगता, तो क्या वह सरो- वरों की शोभा में श्रीवृद्धि करने वाले विकसित कमलों को भी न अच्छा लगेगा ? इन दुष्टों की परवाह कौन करता है? पूर्ण चन्द्रमा को देखकर कुत्ते भौंकते रहें, उसका क्या बिगड़ेगा?[47]

महाकवि दुष्टजनों द्वारा तिरष्कृत होकर मान्यखेट पहुँचे थे। उनका स्वाभिमानी हृदय दुष्टजनों के व्यवहार से पूर्णतया खिन्न था। वे महापुराण के प्रारम्भ में ही कहते हैं कि इस समय लोग ऐसे नीरस और निर्विशेष हो गये हैं कि वृहस्पति के समान गुणियों से भी ईर्ष्या रखते हैं।[49] वे अन्यत्र कहते हैं कि इस कलिमल-मलिन निर्दय, निर्गुण और दुनीतिपूर्ण विपरीत काल में जो जो दिखते हैं, वे सब दुर्जन हैं, सब सूखे हुये वन के सदृश निष्फल और नीरस हैं। नृपति बाण सन्ध्या- काल की लालिमा के समान है।[50] यह संसार गुणियों के लिए उसी प्रकार टेढ़ा है जिस प्रकार गुण {डोरी} चढ़ाया हुआ धनुष।[51]

महाकवि पुष्पदन्त भौतिक संसार से इतने ऊब चुके थे कि आदिपुराण की रचना करने के पश्चात् उनके मन में फिर कुछ उदासीनता आ गयी थी। अत: भरत को महाकवि से रचना करने के लिये पुन: आग्रह करना पड़ा तब उन्होंने अपनी रचना को आगे बढ़ाया।[52]

महाकवि में स्वाभिमान के साथ- साथ आत्मविश्वास भी है। वे कहते हैं कि विशाल ग्रन्थों के ज्ञाता एवं बहुत समय से कविता करने वाले भी मेरी बराबरी नहीं कर सकते। वे सरस्वती से कहते हैं कि "हे देवि सरस्वती, अभिमान-रत्ननिलय पुष्पदन्त के बिना तुम कहाँ जाओगी? तुम्हारी क्या दशा होगी?[53]

महाकवि पुष्पदन्त स्नेहशील[54] और विनयगम्य थे। विनय से कोई भी व्यक्ति उनके समीप पहुँच सकता था।[55] लघुत्व- प्रदर्शन के सन्दर्भ में तो उन्होंने स्वयं को निरक्षर, जन्मजात मूर्ख, निर्लज्ज, पापी, धर्म से अनभिज्ञ, मिथ्यारंजित, जड़कवि, कुकवि, श्रुतसंगहीन, बलहीन, दुर्जनता से मण्डित तक कह डाला है।[56] महाकवि में कृतज्ञता की भावना पूर्णरूप से भरी हुई थी। "महापुराण" में वे अपने आश्रयदाता भरत से कहते हैं कि तुम मेरी अभ्यर्थना करते हो, तो मैं तुम्हारी अवहेलना कैसे कर सकता हूँ। अपनी रचनाओं में उन्होंने अपने आश्रयदाता भरत और नन्न की बारम्बार प्रशंसा तथा मंगल कामना की है। भावुकता तो प्रत्येक कवि में होती है परंतु पुष्पदन्त में यह भावुकता बहुत अधिक थी। इस भावुकता

के कारण वे स्वप्न देखा करते थे। आदिपुराण के समाप्त हो जाने पर किसी कारण उन्हें कुछ अच्छा नहीं लग रहा था, वे निर्विण्ण से हो रहे थे कि एक दिन उन्हें स्वप्न में सरस्वती देवी ने दर्शन दिया और कहा कि "जन्म-मरण रोग के नाश करने वाले अर्हन्त भगवान को, जो पुण्य- वृक्ष को सींचने के लिये मेघतुल्य हैं, नमस्कार करो। यह सुनते ही कविराज जाग उठे और वहाँ उन्हें कुछ नहीं दिखाई दिया तो उन्हें बड़ा विस्मय हुआ।[58] इसके बाद भरत मंत्री ने आकर उन्हें समझाया तब वे उत्तरपुराण की रचना में प्रवृत्त हुये। उस समय के ग्रन्थकर्ता चाहे वे किसी भाषा के हों, संस्कृतज्ञ तो होते ही थे। यद्यपि अभी तक पुष्पदन्त का कोई स्वतन्त्र संस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है, फिर भी वे संस्कृत में अच्छी रचना कर सकते थे ।

अत: महाकवि के व्यक्तित्व और स्वभाव में एक विचित्र निरालापन दृष्टिगोचर होता है जिसमें पाण्डित्य और फक्कड़पन दोनों का अद्भुत समन्वय है।

महाकवि पुष्पदन्त के जन्म-स्थान के विषय में अभी तक कोई स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं हो सका है। उनके कथन से मात्र इतना ज्ञान होता है कि वे दुष्ट-जनों द्वारा अवहेलित होकर पृथ्वी पर भ्रमण करते हुये मान्यखेट पहुँचे थे[59] और वहाँ के राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण {तृतीय} के महामात्र भरत और उनके पश्चात् महा-मन्त्री नन्न की शरण में रहकर उन्होंने अपने तीनों उपलब्ध ग्रन्थों की रचना की थी।[60] मान्यखेट आगमन के पूर्व वे भैरव नरेन्द्र नामक किसी राजा के आश्रय में रहते थे और उनकी प्रशंसा में उन्होंने किसी ग्रन्थ की रचना भी की थी।[61] भैरव नरेन्द्र कहाँ के राजा थे, यह अज्ञात है।

महाकवि पुष्पदन्त की रचनाओं की भाषा अपभ्रंश है। अपभ्रंश-साहित्य की रचना प्राय: गुजरात, मालवा, बरार और उत्तर भारत में ही होती रही है।[62] दक्षिण भारत में न तो उसका संग्रह ही हुआ है और न पोषण ही।[63]

पा० एल० वैद्य के अनुसार महाकवि की रचनाओं में भी अधिकांशत: उत्तर भारत के शब्दों, लोकोक्तियों आदि का ही प्रयोग हुआ है।[64] इससे ऐसा आभास होता है कि महाकवि ने उत्तर भारत का भ्रमण किया रहा होगा।

महाकवि ने एक दो स्थलों पर "खण्ड" नाम से भी अपना उल्लेख किया है।[65] हीरालाल जैन के अनुसार सम्भवत: यह उनका महाराष्ट्र और गुजरात में प्रचलित "खण्डेराव" खाण्डूभाई जैसा घर का नाम रहा होगा।[66] इससे भी ज्ञात होता है कि वे इसी ओर के रहे होंगे। महाकवि की रचनाओं में प्राचीन मराठी भाषा से मिलते- जुलते शब्दों को देखकर ग० वा० तगारे बी० टी० नामक विद्वान् ने उन्हें प्राचीन मराठी का महाकवि बताया है।[67] नाथूराम प्रेमी ने उनका जन्मस्थान बरार मानते हुए लिखा है कि "सिद्धान्तशेखर" नामक ज्योतिष ग्रन्थ के कर्त्ता श्रीपतिभट्ट के पितामह का नाम केशव भट्ट था। सम्भवत: पुष्पदन्त के पिता केशवभट्ट और श्रीपति के पितामह केशवभट्ट एक ही थे। क्योंकि एक तो दोनों ही काश्यपगोत्रीय हैं और दूसरे दोनों के समय में भी अधिक अन्तर नहीं है।[68] श्रीपति ज्योतिषी रोहिणी खण्ड के रहने वाले थे और रोहिणीखण्ड बरार के बुलढाना जिले का रोहनखण्ड नाम का गाँव जान पड़ता है। यदि श्रीपति सचमुच पुष्पदन्त के भतीजे हों तो पुष्पदन्त को भी बरार का ही रहने वाला मानना चाहिये। बरार की भाषा भी मराठी है।[69] पी० एल० वैद्य भी नाथूराम प्रेमी के कथन से सहमत हैं।[70] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि महाकवि पुष्पदन्त का प्रादुर्भाव महाराष्ट्र में ही कहीं होना चाहिये, सम्भवत: वह स्थान बरार में ही हो।

महाकवि पुष्पदन्त के जीवनकाल में महाराष्ट्र में राष्ट्रकूटों का शासन था। महापुराण की उत्थानिका में कहा गया है कि इस समय"तुडिगु महानुभाव" राज्य कर रहे हैं। इस "तुडिगु" शब्द पर "कृष्णराज:" टिप्पणी दिया हुआ है। "कृष्ण राज:" महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध राष्ट्रकूटवंश में हुये थे और अपने समय के महान

सम्राट थे। "तुडिगु" उनका उपनाम था। इस तरह के उपनाम राष्ट्रकूट और चालुक्य वंश के प्राय: अनेक राजाओं के मिलते हैं।[71]

वल्लभनरेन्द्र,[72] वल्लभराय, शुभतुंगदेव और कन्हराय नाम से भी कवि ने उनका उल्लेख किया है।

अमोघ वर्ष तृतीय या बार्दृदग के तीन पुत्र थे - तुडिगु या कृष्ण तृतीय, जगत्तुंग और खोट्टिगदेव। कृष्ण सबसे बड़े थे जो अपने पिता के बाद गद्दी पर बैठे और दूसरे जगतुंग उनसे छोटे थे और उनके राज्यकाल में ही स्वर्गवासी हो गये थे, इसलिये तीसरे पुत्र खोट्टिगदेव गद्दी पर बैठे। कृष्ण के पुत्र का इस समय देहान्त हो गया था और पौत्र भी छोटा था, इसलिये खोट्टिगदेव को अधिकार मिला।

कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट वंश के सबसे अधिक प्रभावशाली और सर्वमान्य राजा था। उनके पूर्वजों का साम्राज्य उत्तर में नर्मदा नदी से लेकर दक्षिण में कर्नाटक तक फैला हुआ था जिसमें सम्पूर्ण गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश और आन्ध्रप्रदेश शामिल थे। इस विस्तृत साम्राज्य को कृष्ण तृतीय ने और भी बढ़ाया। कन्हाड़ के ताम्रपत्रों[73] के अनुसार उन्होंने पाड्य और केरल को हराया, सिंहल से कर वसूल किया और रामेश्वर में अपनी कीर्तिवल्लरी को लगाया। ये ताम्रपत्र नई सन् ९५९ (श० सं० ३८१) के हैं और उस समय लिखे गये हैं जब कृष्णराज अपने मेलपाटी के सेना शिविर में ठहरे हुये थे और अपना जीता हुआ राज्य एवं धन-रत्न अपने सामन्तों और अनुगतों को उदारतापूर्वक बाँट रहे थे।[74] इनके दो महीने बाद लिखी हुई श्रीसोमदेवसूरिका यशस्तिलक-चम्पू से भी इसका संकेत मिलता है।[75] इसमें उन्हें पाण्ड्य, सिंहल, चोल, चेर, प्रभृति देशों को जीतने वाला कहा गया है।

देवलो के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने कांचो के राजा दन्तिग, और वप्पुक का बध किया। पल्लव नरेश अन्तिग को हराया, गुर्जरों के आक्रमण से मध्य भारत के कलचुरियों की रक्षा की और अन्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त की। हिमालय से लेकर लंका और पूर्व से लेकर पश्चिम समुद्र तक के राजा उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करते थे। उसका साम्राज्य गंगा को सोमा को भी पार कर गया था।

चोल देश का राजा परान्तक बहुत बड़ा महत्वाकांक्षी शासक था। उसके कन्याकुमारी से मिले हुये शिलालेख[77] में लिखा है कि उसने कृष्ण तृतोय को हरा कर वोर चोल को पदवी धारण की। उसने उसको किस जगह हराया, यह कुछ नहीं लिखा गया है बल्कि इसके विपरोत अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि ईसवी सन् 944 (शा० 866) से लेकर कृष्ण के राज्य-काल के अन्त तक चोल मण्डल कृष्ण के ही अधिकार में रहा। उक्त लेख में इतनी ही सच्चाई हो सकती है कि सन् 944 के लगभग वोर चोल को राष्ट्रकूटों के साथ की लड़ाई में थोड़ी सी अल्पकालिक सफलता मिली होगी।

दक्षिण अर्काट के जिले सिद्धलिंगमादम स्थान के शिलालेख[78] में जो कृष्ण तृतोय के पाँचवें राज्य- वर्ष का है उसके द्वारा कांची और तंजोर के जोतने का उल्लेख है और उत्तरी[79] अर्काट के चोलपुरम स्थान के ई० सं० 949- 50 (शा० सं० 871) के शिलालेख में लिखा है कि उस वर्ष उसने राजादित्य को मारकर तोंडयि-मण्डल या चोलमण्डल में प्रवेश किया। यह राजादित्य परांतक या वोरचोल का पुत्र था और चोल राजा का सेनापति था।[80] कृष्ण तृतोय के बहनोई और सेनापति भूतुग ने इसे इसके हाथी के हौदे पर आक्रमण करके मारा था[81] और इसके उपलक्ष में उसे वनवासी प्रदेश उपहार में मिला था।

ई० सन् 915 (शा० सं० 837) में राष्ट्रकूट इन्द्र (तृतीय) ने परमार राजा उपेन्द्र (कृष्ण) को जोता था और उसी समय से कृष्ण तृतोय तक परमार राजे राष्ट्रकूटों के माण्डलिक थे। उस समय गुजरात भी परमारों के अधीन था।

परमारों का सीयक या श्रीहर्ष राजा बहुत महत्त्वाकांक्षी तथा बलशाली था। इससे प्रतीत होता है कि उसने कृष्ण तृतीय के आधिपत्य के विरुद्ध सिर उठाया होगा और इसी कारण कृष्ण को उस पर आक्रमण करना पड़ा होगा तथा उसे जीता होगा। इस अनुमान की पुष्टि श्रवणबेलगोला के मारसिंह के शिलालेख[82] से होता है जिसमें लिखा है कि उसने कृष्ण तृतीय के लिए उत्तरी प्रान्त जीते और बदले में उसे "गुर्जर-राज" का खिताब मिला। इसी तरह होलकेरी[83] के ई० स० 967 और 968 के शिलालेख में मारसिंह के दो सेनापतियों को "उज्जयिनी- भुजंग" पद को धारण करने वाला बतलाया है। ये गुर्जर-राज और उज्जयिनी- भुजंग पद स्पष्ट ही कृष्ण द्वारा सीयक के गुजरात और मालवा के जीते जाने का संकेत करते हैं।

सीयक उस समय तो दब गया परन्तु ज्यों ही पराक्रमी कृष्ण की मृत्यु हुई कि उसने पूरी तैयारी के साथ मान्यखेट को खूब लूटा और बरबाद किया। पाइय- लच्छी नाममाला के कर्त्ता धनपाल के अनुसार यह लूट वि० सं० 1029 (श० सं० 894) में हुई और शायद इसी लड़ाई में खोट्टिगदेव मारा गया क्योंकि इसी वर्ष उत्कीर्ण किया हुआ खरडा का शिलालेख[84] खोट्टिगदेव के उत्तराधिकारी कर्क (द्वितीय) का है।

कृष्ण तृतीय ई० सन् 939 (श० सं० 861) के दिसम्बर के आसपास गद्दी पर आरूढ़ हुए होंगे क्योंकि इस वर्ष के दिसम्बर में इनके पिता बद्दिग जीवित थे और कोल्लगलु[85] का शिलालेख फाल्गुन सुदी 6 शक सं० 889 का है जिसमें लिखा है कि कृष्ण की मृत्यु हो गई और खोट्टिगदेव गद्दी पर बैठा। इससे उनका 28 वर्ष तक राज्य करना सिद्ध होता है परन्तु कित्तूर (द० अर्काट) के वीरन्तनेश्वर मन्दिर का शिलालेख[86] उनके राज्य के 30वें वर्ष का लिखा हुआ है। विद्वान का अनुमान है कि ये राजकुमारावस्था में अपने पिता के जीते जी ही राज्य का कार्य संभालने लगे थे इसी से शायद उस समय के दो वर्ष उक्त तीस वर्ष के राज्य-काल में जोड़ लिये गये हैं।

काल- निर्धारण :-

महाकवि पुष्पदन्त ने अपने समय का स्वयं कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है, परन्तु नाथूराम प्रेमी, पो० एल० वेद एवं हीरालाल जैन ने उनके काल के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे हमें उनके रचनाकाल का निश्चित पता ज्ञात होता है।[87] यहाँ हम उनके विचारों को निम्नलिखित रूप में उल्लेख कर रहा हूँ ।

महाकवि पुष्पदन्त ने अपने "महापुराण" में जिन पूर्ववर्ती ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है,[88] उनमें सबसे बाद के ग्रन्थ धवला चोर जयधवला तथा ग्रन्थकार रूद्रट हैं। धवला की रचना 816 ई० में तथा जयधवला की रचना 837 ई० में समाप्त हुई थी। रूद्रट का समय 800 ई० से 850ई० के मध्य माना गया है।[89] इससे स्पष्ट होता है कि पुष्पदन्त इसके बाद ही किसी समय हुए थे। महाकवि के परवर्ती कवियों में बुधहरिषेण के ग्रन्थ "धम्मपरिक्खा" के प्रारम्भ में चतुर्मुख और स्वयंभू के साथ ही साथ पुष्पदन्त का भी उल्लेख मिलता है। उसने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० 1044 या 987 ई० में समाप्त की थी। इससे भी सिद्ध होता है कि पुष्पदन्त इस उल्लिखित काल से पूर्व ही एक महाकवि के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे।[90] महापुराण टिप्पण की एक प्राचीन प्रति[91] में उल्लेख है कि इसकी रचना श्रीचन्द्रमुनि ने भोजदेव के राज्यकाल, वि० सं० 1080 (1023 ई०) में की थी। इससे ज्ञात होता है कि पुष्पदन्त की रचनाएँ 1023 ई० से भी अधिक पुरातन हैं।[92]

महाकवि ने अपने रचना- काल के सन्दर्भ में कण्हराय के हाथ की करवाल रूपी जलवाहिनी से दुर्गम और मेघावली से टकराने वाले धवलगृहों के शिखरों से युक्त मान्यखेट नगरी का तथा "तुडिगु" महानुभाव द्वारा चोल राजा के शिरो च्छेद का उल्लेख किया है।[93] "कण्हराय" और "तुडिगु" नामों पर "कृष्णराज:"

यदि प्राप्त भी है तो विभिन्न प्रतियों में विभिन्न स्थलों पर। इससे स्पष्ट होता है कि इसका समावेश[100] मान्यखेट के लूट अर्थात् 972 ई० के बाद ही किसी समय हुआ होगा। चाहे जो भी हो इससे इतना तो अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि 972 ई० तक जीवित थे।

अत: स्पष्ट हो जाता है कि पुष्पदन्त 959 ई० से 972 ई० तक मान्यखेट में रहे।

इस प्रकार विद्वानों के उक्त विचारों द्वारा महाकवि पुष्पदन्त के जीवन-काल की चौदह वर्षों की अवधि पर तो प्रकाश पड़ता है परन्तु उनकी शेष जीवनावधि अन्धकार में ही रह जाती है। यद्यपि आज तक कोई ऐसा तथ्य प्राप्त नहीं हुआ है, जिसके आधार पर महाकवि पुष्पदन्त के पूरे जीवन-काल की अवधि का निश्चय किया जा सके, फिर भी उन्होंने अपनी रचनाओं में जिस प्रतिभा का परिचय दिया है, उससे प्रकट होता है कि वह विलक्षण प्रतिभा उन्हें 25 वर्ष से कम आयु में उपलब्ध नहीं हुई होगी।

आश्रयदाता -

महाकवि पुष्पदन्त के भैरव नरेन्द्र, राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण (तृतीय) के महामात्य भरत और उनके पुत्र नन्न आदि का वर्णन हमें प्राप्य है। अत: यहाँ उनके इन तीन आश्रयदाताओं का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

भैरव नरेन्द्र :- भैरव नरेन्द्र के सन्दर्भ में हमें विशेष जानकारी नहीं प्राप्त है। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि "महापुराण" रचने का आग्रह करते हुये महाकवि पुष्पदन्त के द्वितीय आश्रयदाता महामात्य भरत जी कहते हैं कि आपने अपनी श्रीविशेष से सुरेन्द्र को जीतने वाला तथा पर्वत के समान धरी-वीर-गम्भीर मानकर भैरव नरेन्द्र की प्रशंसा की है, उससे जो मिथ्यात्व-भाव उत्पन्न हुआ है, उसका[101] आज आप यदि प्रायश्चित कर डालें, तो आपका परलोक ठीक हो जाये।

उक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि मान्यखेट आगमन के पूर्व महाकवि किसी भैरव नरेन्द्र के आश्रय में रहते थे। ये भैरव नरेन्द्र कहाँ के नृप थे, इसका अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है।

महामात्य भरत :-
--------------- महाकवि पुष्पदन्त ने अपने "महापुराण" की रचना महामात्य भरत के आश्रय में रहकर तथा उन्हीं की जीवन्त प्रेरणा से की थी। उन्होंने इसकी प्रत्येक सन्धि की पुष्पिका में "महाभव्वभरहाणुमण्णिए" कहा है और भरत की प्रशंसा में अनेक प्रशस्ति पदों की रचना भी की है।[102] "महापुराण" में महाकवि ने भरत का बहुत कुछ परिचय दिया है।

भरत महामात्य- वंश में उत्पन्न हुए थे।[103] वे कौण्डिण्य गोत्र के ब्राह्मण थे।[104] कहीं-कहीं उन्हें उन्हें भरत भट्ट भी लिखा है। उनके पितामह का नाम अण्णइय, पिता का नाम अइयण, माता का नाम श्रीदेवी तथा पत्नी का नाम कुंदव्बा था।[105] उनके सम्भवतः सात पुत्ररत्न थे - देविल्ल, भोगल्ल, नन्न, शोभन, गुणवर्म, दंगइय और संतइय।[106]

भरत का शरीर श्यामवर्ण, सुलक्षणों से युक्त, सुन्दर नेत्र, अंग लावण्य से सुशोभित तथा अनंग की कान्ति से युक्त, भुजायें हाथी के सूंड़ के सदृश लम्बी और मुख चन्द्रमण्डल के समान था।[107]

भरत जैनधर्म के अनुयायी थे। यही कारण है कि महाकवि पुष्पदन्त ने उनके लिये "अनवरत-रचित-जिननाथ-भक्तित"[108] और "जिनवरसमय प्रासाद स्तम्भ" जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। भरत ने पोखर, तालाब तथा कुएँ खुदवाने और जैन चैत्यालय बनवाने की अपेक्षा जैन-पुराणों की प्रख्याति के लिए ही अपने धन का व्यय किया है।[109]

भरत राष्ट्रकूट नरेश बल्लभराज कृष्ण [तृतीय] के महामंत्री, सेनापति और दानमंत्री थे।[110] उन्होंने यह राजपद बड़ी आपत्तियाँ सहकर अपनी तेजस्विता और ईश्वर की सेवा से प्राप्त किया था, क्योंकि सन्तान-क्रम से चली आयी हुई यह लक्ष्मी [राजपद] कुछ समय के लिये उनके कुल से चली गयी थी।[111]

भरत में अनेकों गुण विद्यमान थे तथा उनके शत्रुओं को भी कमी न थी।[112] उनका यश: सौरभ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रसरित था। वे सदैव जिन-भक्ति में लीन रहते थे, शुभतुंगदेव (कृष्णराज) के चरण-कमलों के भ्रमर थे, सम्पूर्ण कलाओं तथा विद्याओं में दक्ष थे एवं प्राकृत कवियों के काव्य- रस में लीन रहते थे। उन्होंने सरस्वती रूपी सुरभि का दुग्ध-पान किया था। लक्ष्मी उन्हें चाहती थी। वे सत्यप्रतिज्ञ और निर्मत्सर थे। युद्धों का बोझ ढोते- ढोते उनके कन्धे घिस गये थे, अर्थात् उन्होंने अनेक लड़ाइयाँ लड़ी थी। वे बहुत ही मनोहर, कवियों के लिये कामधेनु तथा दीन- दु:खियों की आशा पूरी करने वाले थे। उनका यश: सौरभ सम्पूर्ण दिशाओं में प्रसरित था। वे परस्त्री पराङ्‌मुख, सच्चरित्र, उन्नतमति, सुजनों के उद्धारक और गुरूजनों के चरणों में विनयीत रहते थे।[113] वे दु:स्थितों के मित्र, दर्परहित, उपकारी, विद्वानों के कष्ट रूपी सहस्रों भयों को हरण करने वाले, प्रतिभा के धाम, गर्वरहित और भव्य थे।[114]

भरत बहुत ही उदार और दानी थे। भरत की त्यागशीलता पर महाकवि पुष्पदन्त को बड़ा ही गर्व था। उनके शब्दों में राजा बलि, जीमूतवाहन तथा दधीचि के स्वर्गगत हो जाने से त्याग गुण अगत्या भरत में ही आकर बस गया था।[115] वे अन्यत्र विश्व को चुनौती देते हुए वसुन्धरा से प्रश्न करते हैं कि हे माँ, अपनी जड़ता छोड़कर बताओ कि भरत के समान त्यागी, गुणी, सर्वजन-प्रिय, सुभग तथा यशस्वी क्या कोई दूसरा है या नहीं।[116]

भरत विद्या और श्रीलक्ष्मी दोनों से सुशोभित थे। यही कारण है कि महाकवि कहते हैं कि वाग्देवी सरस्वती से लक्ष्मी सदैव नाराज रहती थी एवं सरस्वती लक्ष्मी से द्वेष रखती थीं, परन्तु वे दोनों जब मंत्री भरत के पास आई तो दोनों में प्रगाढ़ प्रेम हो गया।[117]

महाकवि पुष्पदन्त मंत्री भरत की प्रशंसा करते हुए एक स्थल पर कहते हैं कि त्याग, भोग और भावोद्गम शक्ति एवं निरन्तर की जाने वाले कवि-मैत्री

से शालिवाहन राजा से भी बढ़कर भरत की कीर्ति चतुर्दिक प्रसरित हुई थी। कालिदास की महत्ता को स्वीकार करने वाले श्रीहर्ष के समान दूसरे भरत ही थे। वे कविकामधेनु, कविवत्सल, कविकल्पवृक्ष, कविक्रीडागिरिवर तथा कवि राजहंस- मानसरोवर थे।[118]

महाकवि पुष्पदन्त जैसे स्वाभिमानी, निर्लोभी, स्नेही और संसार से उद्विग्न व्यक्ति को अपने घर रखकर "महापुराण" जैसे विशाल ग्रन्थ की रचना करने के लिये आग्रह करना एवं उसे पूर्ण करवा लेना भरत की अपनी प्रतिभा है। वे नर- पारखी तथा गुणग्राही थे। उन्होंने प्रिय, दर्परहित, धर्मशील वचनों और अपनी विद्वतापूर्ण गुणों द्वारा महाकवि पुष्पदन्त को बारम्बार प्रेरित कर महापुराण की रचना करवायी थी, जो शायद दूसरे न करवा पाते।[119]

महापुराण का समापन अवस्था अर्थात् 965 ई0 तक[120] महातेजस्वी पुष्पदंत भरत के ही आश्रय में थे,[121] किन्तु "णायकुमारचरिउ" की रचना के समय (966-68 ई0 के बीच)[122] वे भरत के पुत्र नन्न के आश्रय में रहने लगे थे।[123] इससे स्पष्ट होता है कि 965- 66 में ही मंत्री भरत का या तो स्वर्गवास हो गया था अथवा उन्होंने वैराग्य ग्रहण कर लिया था।

<u>महामन्त्री नन्न :-</u> महामात्य भरत के पश्चात् महाकवि पुष्पदन्त महामंत्री नन्न के आश्रय में रहने लगे। इन्हीं के आश्रय में महाकवि ने अपने "णायकुमार-चरिउ" और "जसहरचरिउ" की रचना की थी।[124] इन दोनों रचनाओं को उन्होंने क्रमशः "नन्न- नामांकित" और "नन्न- कर्णाभरण" कहा है।[125]

नन्न महामात्य भरत के तीसरे सुतरत्न थे। उनकी माता का नाम कुन्दव्बा था।[126] उनका मुख पूर्ण चन्द्र-बिम्ब के समान था।[127] वे प्रकृति से सौम्य तथा हृदय से शुद्ध थे।[128] उनकी कीर्ति सारे लोक में फैली हुयी थी। सम्भवतः उनके अनेक पुत्र थे।[129]

नन्न राष्ट्रकूट नरेन्द्र के महामंत्री और गृहमंत्री थे। वे अपने पिता की ही भाँति जैन धर्मावलम्बी थे। वे जिनेन्द्र- चरणकमलों के भ्रमर थे, सदैव उत्तम जिन-मन्दिरों का निर्माण करवाते थे। जिन- भवन में पूजा करने में निमग्न रहते थे एवं जैन शासन के उद्धारक थे।[130] वे नित्य तीर्थंकरों के चरण-कमलों को भक्तिपूर्वक प्रणाम करते थे, त्रिवर्ग {धर्म, अर्थ और काम} में कुशल होते हुए जैनागमों के अर्थ का गम्भीरतापूर्वक मनन करते थे और चतुर बुद्धि होते हुए मन-वचन- काय पूर्वक नन्न साधुओं को चारों प्रकार का दान {आहार, औषधि, अभय और शास्त्र} देते थे।[131]

नन्न में दानशीलता का अभूतपूर्व उत्साह था। वे कर्ण के समान दानवीर और युधिष्ठिर के समान धर्मानुयायी थे।[132] वे मुनिजनों का सम्मान करते थे तथा उन्हें दान देते थे।[133] वे दारिद्र्य रूपी कन्द के अंकुर को समूल नष्ट करने वाले, अनेक दीन दुःखियों को धन देने वाले तथा दीनजनों के शरणस्थल थे।[134] उन्होंने अपने निरन्तर दानवृत्ति से बन्दीवृन्द को सन्तुष्ट कर दिया था, वे दारिद्र्य रूपी रौद्र हस्ती के कुम्भस्थलों को विदीर्ण करने में दक्ष थे।[135] वे महागुणशाली थे, उनके लिए धन सम्पदा तृण से भी अधिक तुच्छ थी और वे अधर्म को त्यागकर धर्म से बँधे हुए थे।[136] वे करुणा रूपी अगाध सागर को बढ़ाने में नये मेघ के समान सिंचन-कारी थे।[137] वे समस्त शास्त्रों के ज्ञाता थे, वे देवों के स्वामी इन्द्र द्वारा प्रमाणित केवली भगवान के चरण के भक्त, भव्यजनों के सहोदर, संसार रूपी जन्म-मरण के विधान से भिन्न, नीति में चाणक्य के सदृश ज्ञाता, इन्द्रियों के विजेता एवं स्नेह तथा विनयशील गुणों से सुशोभित थे।[138]

नन्न प्रसरणशील कीर्ति रूपी वधू के कुलगृह के समान थे।[139] उन्होंने अपने यशः सौरभ से सम्पूर्ण भुवन को आलोकित कर दिया था।[140] वे नक्षत्रों के स्वामी चन्द्र की किरणों के समूह से भी अधिक स्वच्छ और विशाल कीर्ति के घर के समान थे।[141]

महाकवि पुष्पदन्त के अनुसार नन्न गृहलक्ष्मी को सँभालने में अद्वितीय तथा शुभतुंग- भवन के भार को वहन करने में पूर्ण सक्षम वीर- पुरुष थे।[142] प्रभु-भक्ति में वे महावीर के समान अपने स्वामी को चिंतित फल प्राप्त कराने वाले तथा बुद्धि के प्रसार से शत्रु- बल को जीतने में कुशल थे।[143] उन्होंने बाह्य और आभ्यांतर दोनों प्रकार के शत्रुओं को जीत लिया था।[144] वे विच्छिन्न सरस्वती के बान्धव तथा वागीश्वरी के निवासस्थल थे और समस्त विद्वानों के विद्या द्वारा विनोद में तत्पर रहते थे।[145] महाकवि ने नन्न के गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कवि ने उनके लिए कुलवत्सल, समर्थ, गुणवन्त और महन्त,[146] उत्कृष्ट काव्य-रत्न- रत्नाकर तथा पद्मिनी लक्ष्मी के मानसरोवर,[147] कलिकाल के दोषों से रहित,[148] राज्यलक्ष्मी - क्रीड़ा, सरोवर,[149] कान्ति-रूपी आकाश के सूर्य,[150] गुणों के भक्त[151] इत्यादि विशेषणों का प्रयोग किया है।

मान्यखेट की लूट में सम्भवतः नन्न का गृह भी नष्ट कर दिया गया था।[152] जसहरचरिउ के अन्त में महाकवि पुष्पदन्त ने मान्यखेट की दुर्दशा का जो वर्णन किया है, उससे नाथूराम प्रेमी ने नन्न को खोट्टिगदेव के उत्तराधिकारी कर्क (द्वितीय) का भी मंत्री रहने का अनुमान लगाया है।[153]

कतिपय अन्य परिचित जन -

महाकवि पुष्पदन्त ने अपने ग्रन्थों में भरत और नन्न के अतिरिक्त कुछ और लोगों का भी नामोल्लेख किया है। मेलपाटी में पहुँचने पर अम्मइय और इन्द्राय नामक दो पुरुष उन्हें सर्वप्रथम मिले थे। ये दोनों वहाँ के नागरिक थे और इन्होंने भरत मंत्री की प्रशंसा करके उनके यहाँ नगर में चलने का आग्रह किय[ा]। उत्तरपुराण के अंत में सभी को शांति कामना करते हुए उन्होंने संत, देवल्ल, भोगल, सोहण, गुणवर्म, दंगइय और संतइय का उल्लेख किया है। इनमें से संत को बहुगुणी, दयावान, प्रतिभावान और भाग्यवान बतलाया है। देवल्ल संत का पुत्र था जिसने

महापुराण का सम्पूर्ण पृथ्वी पर प्रसार किया। भोगल्ल को चतुर्विध दानदाता भरत का परम सखा, अनुपम चरित्र और विस्तृत यश: सौरभ वाला बतलाया है। शोभन और गुणवर्म को निरन्तर जिनधर्म का रक्षा करने वाला कहा है। नागकुमारचरित के अनुसार वे महोदधि के शिष्य थे। इन्होंने नागकुमारचरित की रचना की प्रेरणा की थी। दंगइय और सन्तइय को भी शान्ति-कामना की है। नागकुमारचरित में दंगइय को आशीर्वाद दिया है कि उसका रत्नत्रय विशुद्ध हो। नाइल्ल और सोलइय का भी वर्णन प्राप्य है, इन्होंने भी णाय-कुमारचरिउ रचने का आग्रह किया था। महाकवि पुष्पदन्त के इन परिचित जनों के विषय में हमें किसी अन्य स्रोत से विस्तृत जानकारी नहीं प्राप्त होती है।

कृतियां एवं क्रम निर्धारण -

महाकवि पुष्पदन्त के अब तक तीन ग्रन्थ प्राप्त हैं- महापुराण, णाय-कुमारचरिउ और जसहरचरिउ। इन प्रामाणिक रचनाओं के अतिरिक्त उनके द्वारा कुछ अन्य ग्रन्थों की भी रचना की जाने की सम्भावना विद्वानों ने व्यक्त की है। महापुराण में जो "वीरभइरवणरिंदु"[154] शब्द आया है, उस पर "वीरभैरव: अन्य: कश्चिददुष्टमहाराजो वर्तते, कथामकरन्दनायको वा कश्चिद्राजास्ति" टिप्पणी दी हुई है।[155] इससे नाथूराम प्रेमी ने महाकवि द्वारा "कथा-मकरन्द" नामक भी किसी ग्रन्थ के रचे जाने का अनुमान लगाया है।[156] इसी तरह हीरालाल जैन ने जसहरचरिउ[157] के आधार पर उनके द्वारा धन तथा नारी-विषयक अर्थात् भोग-विलास एवं श्रृंगार विषयात्मक भी कुछ रचनाएँ की जाने की सम्भावना व्यक्त की है।[153] रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास में महाकवि पुष्पदन्त के एक अन्य ग्रन्थ कोशग्रन्थ का वर्णन किया है,[159] जो प्राप्य नहीं है। जल्हण की सूक्ति मुक्तावली में "आन्ध्रोप्रेमनिबन्धनैकनिपुण:

जाटो विदग्धप्रिय:" प्रभृति श्लोक पुष्पदन्त के नाम से दिया हुआ है। सम्भव है कि यह प्रस्तुत महाकवि के ही किसी अन्य ग्रन्थ से लिया गया हो। हीरा लाल जैन ने स्तोत्र- साहित्य के "शिवमहिम्नस्तोत्र" नामक ग्रन्थ के कर्ता पुष्पदन्त के साथ प्रस्तुत पुष्पदन्त के एकत्व का प्रश्न भी विचारणीय बताया है।[160] किन्तु प्रेमी जी ने इस प्रसंग में लिखा है कि राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में "शिव-महिम्न" का एक श्लोक उद्धृत किया है। अत: उसका समय राजशेखर से पूर्व का होना चाहिए और तब अभिमानमेरु पुष्पदन्त से "शिव- महिम्न्" के कर्त्ता भिन्न और पहले के होने चाहिए।[161] राजशेखर का समय दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।[162] महाकवि पुष्पदन्त की रचनाओं में काव्यात्मक सौन्दर्य एवं भाषा की प्रौढ़ता को देखते हुए यह सम्भव प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने प्राप्य ग्रन्थों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य ग्रन्थों की रचना की होगी। उनकी उपलब्ध कृतियों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है-

महापुराण :- यह रचना पी० एल० वैद्य द्वारा सुसम्पादित होकर माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति से तीन भागों में क्रमश: 1937, 1940, एवं 1941 ई० में प्रकाशित हुआ है। महाकवि ने इसका "तिसट्ठि- महापुरिसगुणालंकार" {त्रिषष्ठि- महापुरुषगुणालंकार} नामकरण भी किया है। इस कृति की रचना उन्होंने अपने आश्रयदाता तथा राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण {तृतीय} के महामात्य भरत की प्रेरणा से मान्यखेट नगर में की थी। उन्होंने इसकी प्रत्येक संधि की पुष्पिका में "महाभव्वभरहाणुमण्णिए" {महाभव्यभरतानुमानित} लिखा है। इस कृति के कृतित्व में महाकवि को लगभग 6 वर्ष {सिद्धार्थ संवत्सर से लेकर क्रोधन संवत्सर की आषाढ़ शुक्ल दशमी अर्थात् 957 ई० से लेकर रविवार, 11 जून, 965 ई० तक} का समय लगा था।[163]

महापुराण, पुष्पदन्त की प्राप्य रचनाओं में सर्वप्रथम और विशाल रचना है। इसमें कुल 102 संधियाँ हैं, जो 1997 कड़वकों में पूर्ण हुई हैं। कुछ सन्धियों के प्रारम्भ में कवि के आश्रयदाता भरत की प्रशंसा आदि से सम्बन्धित प्रशस्तियाँ हैं, जिनकी संख्या अड़तालीस है। इनमें से छ: प्राकृत भाषा में और शेष सब संस्कृत भाषा में हैं। "महापुराण" अपभ्रंश साहित्य एवं जैन- परम्परा का एक महान् और धार्मिक ग्रन्थ है। इसकी महानता व्यक्त करते हुए कवि पुष्पदन्त ने स्वयं लिखा है कि इस रचना में प्राकृत के लक्षण, सम्पूर्ण नीति, छन्द, अलंकार, रस, तत्त्वार्थनिर्णय इत्यादि इसमें समाहित हैं, जो इसमें उपलब्ध नहीं है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।[164] यह रचना दो भागों में विभाजित है- आदिपुराण और उत्तरपुराण।

आदिपुराण प्रथम 37 सन्धियों में समाप्त होता है, जिसमें आदि तीर्थंकर ऋषभ-नाथ और प्रथम चक्रवर्ती भरत की जीवनगाथाएँ वर्णित हैं। उत्तरपुराण की 65 संधियाँ हैं जिनमें शेष तेइस तीर्थंकरों और उनके समकालवर्ती अन्य महापुरुषों के जीवन- चरित्र का वर्णन है।[165]

णायकुमारचरिउ (नागकुमारचरित) - यह एक सुन्दर खण्डकाव्य है। इसमें नौ सन्धियाँ हैं जो 170 कड़वकों में पूर्ण हुई हैं। इसमें श्रीपंचमी व्रत के फल को प्रकट करने वाले नागकुमार का चरित्र वर्णित है। ग्रंथ के अन्त में एक कड़वक तथा छ: गाथाएँ हैं, जिसे कवि- प्रशस्ति कहा जाता है। वस्तुत: इस कथानक का मुख्य उद्देश्य नागकुमार के चरित्र द्वारा श्रीपंचमी- उपवास- व्रत का फल प्रतिपादित करना है।

यह कृति प्रथम बार हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित होकर बलात्कारगण जैन पब्लिकेशन सोसाइटी कारंजा, बरार से सन् 1933 में प्रकाशित हुई थी। इसका द्वितीय सर्ग भी हिन्दी अनुवाद, शब्दकोश आदि के साथ जैन के द्वारा

द्वारा सम्पादित होकर भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली-1 से सन् 1972 में प्रकाशित हो चुका है। महाकवि ने इसकी रचना महोदधि के शिष्य गुणधर्म और शोभन, नन्न, नाइल्ल और शोलैया की प्रेरणा से मान्यखेट में महामात्य भरत के पुत्र नन्न के आश्रम और भवन में रहते हुए की थी।[166] "महापुराण" की रचना महाकवि पुष्पदन्त ने राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण (तृतीय) के महामात्य भरत के आश्रय में रहकर की थी और "णायकुमारचरिउ" की रचना के समय वे भरत के पुत्र नन्न के महल में निवास कर रहे थे। इससे स्पष्ट होता है कि "णायकुमार चरिउ" की रचना उन्होंने महापुराण की रचना पूर्ण होने अर्थात् 11 जून, 965ई० के बाद किसी समय प्रारम्भ की होगी। इसकी रचना के समय मान्यखेट नगर श्रीकृष्णराज के हाथ में स्थित तलवार रूपी सरिता से दुर्गम था।[167] अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार कृष्णराज ने 939 से 967 ई० तक राज्य किया था।[168] इससे प्रकट होता है कि णायकुमारचरिउ की रचना 11 जून, 965 और 967ई० के मध्य किसी समय हुई थी।

जसहरचरिउ (यशोधरचरित)- यह भी एक सुन्दर खण्डकाव्य है और इसमें "यशोधर" नामक पुराण- पुरुष का चरित्र वर्णित है। इसमें चार सन्धियाँ हैं। यह कथानक जैन सम्प्रदाय में इतना प्रिय रहा है कि सोमदेव, वादिराज, वासवसेन, सोमकीर्ति, हरिभद्र, क्षमाकल्याण आदि अनेक दिगम्बर, श्वेताम्बर कवियों ने इसे अपने ढंग से प्राकृत और संस्कृत में लिखा है। इसकी रचना श्री महाकवि पुष्पदन्त ने मान्यखेट में नन्न के आश्रय तथा उन्हीं के भवन में रहकर की थी।[169] उन्होंने इसे "महामन्त्री नन्नकर्णाभरण" कहा है।[170] यद्यपि महाकवि ने इसके रचना काल का कोई स्पष्ट वर्णन नहीं किया है, फिर भी इसमें राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण (तृतीय) के उल्लेख (जैसा कि वे उनके उक्त दोनों रचनाओं में पाया जाता है) का अभाव तथा मान्यखेट नगर की दुःस्थिति का चित्रण पाया जाता है।[171] जिससे

प्रतीत होता है कि इसकी रचना 967 और 972 ई० के मध्य किसी समय हुई होगी। यह कृति सर्वप्रथम सन् 1931 ई० में कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा से परशुराम लक्ष्मण वैद्य द्वारा सम्पादित होकर अंग्रेजी भूमिका के साथ प्रकाशित हुई थी। इसका द्वितीय संस्करण हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित होकर भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-1 से हिन्दी अनुवाद, शब्दकोश आदि के साथ सन् 1972 ई० में प्रकाशित हो चुका है।

"जसहरचरिउ" की प्रकाशित प्रतियों में कुछ ऐसे प्रक्षिप्त अंश भी हैं, जिन्हें गन्धर्व नामक एक कवि ने 1365 वि० सं० [1308 ई०] में लिखकर महाकवि पुष्पदन्त कृत "जसहरचरिउ" में जोड़ दिये थे। इसका वर्णन उन्होंने स्वयं किया है, जो संक्षेप में इस प्रकार है - "एक दिन पट्टन के बीसल साहु ने कृष्ण के पुत्र पं० ठक्कुर गन्धर्व से आग्रह किया कि आप पुष्पदन्तकृत जसहर-चरिउ में कौलाचार्य भैरवानन्द का राजकुल में प्रवेश, यशोधर विवाह तथा सभी पात्रों के भव-भ्रमण और भवान्तरों के वृत्तान्त प्रविष्ट कर दीजिए, तब गंधर्व कवि ने योगिनीपुर [दिल्ली] में निवास करते हुए वि० सं० 1365, वैशाख कृष्णपक्ष तृतीया मिश्रित द्वितीया, दिन रविवार को उक्त वृत्तान्तों की रचना समाप्त कर साहुजी को सुनाया, जिसे सुनकर वे अतीव प्रसन्न हुए।[172]

गन्धर्व कवि द्वारा जुड़े हुए प्रक्षिप्त अंश निम्न हैं -

1- संधि 1/5/3 से 1/3/17 तक [राजा मारिदत्त और कौलाचार्य भैरवानंद के संयोग का वर्णन]।

2- संधि 1/24/9 से 1/27/23 तक [यशोधर को प्रौढत्व-प्राप्ति तथा उनके विवाह का वर्णन]।

3- सन्धि 4/22/17 से 4/30/15 तक (प्रमुख पात्रों के विभिन्न भवान्तरों एवं गन्धर्व द्वारा प्रक्षिप्त अंश जोड़े जाने का वर्णन तथा गन्धर्व कवि का आत्मपरिचय)।

ये प्रक्षिप्त अंश महाकवि के मूल- पाठ के साथ इस प्रकार संलग्न हैं कि उन्हें अलग किये जाने पर रचना स्पष्टत: खण्डित हो जाती है। अत: प्रतीत होता है कि गन्धर्व कवि ने अपने प्रक्षेपों को जोड़ते समय पूर्व रचना के कुछ अंशों को पूर्णत: हटा दिया है।

गन्धर्व कवि ने अपने जोड़े हुए प्रक्षिप्त अंशों का वर्णन यथास्थान बड़ी ईमानदारी के साथ कर दिया है। जैसे प्रथम प्रक्षिप्त अंश के अन्त में उन्होंने लिखा है कि "गन्धर्व कवि कहता है कि मैंने ही यह राजा और योगिराज के संयोग का वर्णन किया है। फिर वह कहता है कि कविराज, सरस्वती-निलय, कविकुल-तिलक पुष्पदन्त देवी के स्वरूप का वर्णन करते हैं।"[173] इसी प्रकार उन्होंने शेष स्थलों पर भी इसका उल्लेख स्पष्ट रूप से कर दिया है।[174] जिससे उन अंशों को मूलपाठ से अलग करना सरल हो जाता है। जसहरचरिउ की रचना का प्रमुख उद्देश्य जीव- हिंसा की निन्दा कर जैन- धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है। वस्तुत: यह कथा जैन- साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखती है। इसकी रचना अपभ्रंश के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, कन्नड़, तमिल और हिन्दी भाषाओं में भी हुई है।[175]

महापुराण का वर्ण्यविषय एवं महत्व -

"पुराण" से तात्पर्य अतीत काल की घटनाओं के सूचित ग्रन्थ से है। "पुराण" शब्द का प्रादुर्भाव तो पहले ही हो चुका था परन्तु पौराणिक ग्रंथ बाद में विरचित हुए। "पुराण" शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम वैदिक ग्रन्थों में

प्राप्य है। ऋग्वेद के कई स्थानों पर "पुराण" शब्द प्रयुक्त हुआ है[176] किन्तु एक स्थल पर "पुराणो" शब्द उपलब्ध है।[177] यहां यह शब्द अतीतकालीन गाथा के लिए प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद के दो मन्त्रों में "पुराण"[178] तथा "पुराणवित"[179] शब्द मिलते हैं। गोपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण, उपनिषद्, कल्प आदि के साथ-साथ पुराण भी वेदान्त के रूप में मान्य हैं।[180] इसमें पुराणवेद तथा इतिहासवेद का भी उल्लेख है।[181] पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार उस समय तक "इतिहास" और "पुराण" में भिन्नता हो चुकी थी।[182] वैदिक ग्रन्थों में "पुराण" शब्द का प्रयोग मात्र आख्यानार्थ हुआ है। वेदों तथा प्रारम्भिक पुराणों में ऐसे स्थान भी मिल जाते हैं जिनके विरचन में या तो समभाव है या जिनके आधार पर दूसरे के अनुवर्ती विकास का साक्ष्य प्राप्त होता है।[183] एस० एन० राय के अनुसार वेदों में जो आख्यान के प्रकरण प्राप्य हैं, वे बौद्धिक रूप से समाज के निम्न वर्ग के लिए थे किन्तु पौराणिक आख्यान का विकास युग के अनुकूल हुआ था।[184] जैन पुराणों में "पुराण" के दो भेद उपलब्ध हैं- "पुराण" और "महापुराण" जिसमें एक शलाका पुरुष के चरित्र का वर्णन हो उसे पुराण कहते हैं और जिसमें 63 शलाका पुरुषों के चरित्र का वर्णन हो उसे "महापुराण" कहते हैं।[185]

"पुराण" और "महापुराण" से तात्पर्य उन प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों से है, जिनमें भारतीय ब्राह्मण तथा जैन परम्परा की पुरातन कथाएँ और आख्यायिकाएँ परम्परागत पवित्र धरोहर के रूप में संगृहीत हैं। भारत के जन-जीवन के उत्थान एवं पतन के इन "पुराणों" तथा "महापुराणों" की कथाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आज भी भारत की अधिकांश जनता इन कथाओं को बड़ी श्रद्धा एवं भक्ति- भाव से पढ़ती तथा श्रवण करती है। ब्राह्मण-परंपरा में "पुराण" के निम्नलिखित पंच- लक्षण प्रसिद्ध हैं[186] - सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर

तथा वंशानुक्रम ये पुराण के पाँच लक्षण हैं, जिन्हें विद्वान् लोग उपपुराणों का लक्षण कहते हैं।[187] इसी प्रकार महापुराण के भी निम्नलिखित लक्षण बताये गये हैं जिसमें सृष्टि, विसृष्टि, स्थिति तथा उसके पालन का वर्णन उपलब्ध हैं। कर्मों की वासना का वर्णन, प्रलयों का वर्णन तथा मोक्ष का निरूपण होता है। हरि भगवान का उत्कीर्त्तन एवं देवों के पृथक्- पृथक् कीर्तन उपलब्ध हैं। इस प्रकार महापुराणों के दस से अधिक लक्षण होते हैं।

उक्त विवेचनों से ब्राह्मण परम्परानुमोदित "पुराण" और "महापुराण" का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। अब यहाँ जैन परम्परानुमोदित पुराण तथा महा-पुराण का अर्थ भी विचारणीय है। जैन दिगम्बर सम्प्रदाय की परम्परा में निर्मित ग्रन्थों को चार अनुयोगों में विभाजित किया गया है- प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुरोग। प्रथमानुयोग में पुराणों, चरितों एवं कथाओं अर्थात् आख्यानात्मक ग्रन्थों का, करणानुयोग में ज्योतिष, गणित इत्यादि विषयक ग्रन्थों का, चरणानुयोग में मुनियों एवं गृहस्थों के पालन करने योग्य नियमोपनियम सम्बन्धी आचार विषयक ग्रन्थों का और द्रव्यानु-योग में जीव, अजीव इत्यादि तत्वों के चिंतन से सम्बन्ध रखने वाले दार्शनिक, कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी एवं नय-निक्षेप आदि विषयक सैद्धान्तिक ग्रन्थों का समा-वेश प्राप्य है।[188] इस प्रकार "पुराण" और "महापुराण" प्रथमानुयोग की शाखाएँ हैं।

जैनाचार- जिनसेन और महाकवि पुष्पदन्त ने "पुराण" और "महापुराण" में लोक [लोक की व्युत्पत्ति, उसकी प्रत्येक दिशा और उसके अन्तरालों के वर्णन], देश [लोक के किसी एक भाग में स्थित देश, पहाड़, द्वीप तथा समुद्र आदि के सविस्तार वर्णन], नगर [देश की राजधानियों के वर्णन], राज्य [विभिन्न राज्यों तथा उनके राजाओं के वर्णन], तीर्थ [तीर्थंकर-चरित का

वर्णन), गति (नरकादि गतियों के वर्णन), तथा फल (मोक्ष- प्राप्ति पर्यन्त पुण्य और पाप के फलों का वर्णन) इन आठ विषयों का निरूपण अनिवार्य माना है।[189]

जैनाचारजिनसेन ने पुराण और महापुराण का वर्णन करते हुए बतलाया है कि "पुरातन" होने से "पुराण" कहलाता है और उसमें महापुरुषों एवं उनके उपदेशों का वर्णन होने से या उसके पढ़ने वालों को महान् कल्याण को प्राप्ति होने से "महापुराण" कहलाता है। इस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों का भो यही मत है। महर्षियों ने महापुरुषों से सम्बन्ध रखने तथा उसमें अभ्युदयकारी उपदेश का समावेश होने के कारण महापुराण कहा है। फिर उन्होंने "पुराण" और "महापुराण" में अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "चौबीस तीर्थंकरों के अलग- अलग चरित वर्णन करने वाले ग्रन्थ "पुराण" तथा उन सबका संकलन ~~करने~~ "महापुराण" कहलाता है।"[190] पुष्पदन्त ने महापुराण को अतिदुर्गम कहा है।[191]

अत: स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा में उन प्राचीन ग्रन्थों को पुराण कहा गया है, जिनमें किसी एक ही पुरुष का चरित्र अंकित हो तथा उन प्राचीन ग्रन्थों को "महापुराण" कहा गया है, जिनमें समस्त महापुरुषों के चरित्र और उनके उपदेश वर्णित हों।

जैन पुराणों के उद्भव के विषय में कहा गया है कि तीर्थंकर आदि के जीवन के कुछ तथ्यों का संकलन स्थानांग सूत्र में प्राप्य है जिसके आधार पर हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित आदि की रचनाएँ कीं। दिगम्बर परम्परा में तीर्थंकर आदि के चरित का वर्णन "त्रिलोयपण्णत्ति" ग्रन्थ में उपलब्ध है। चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण तथा नौ बलभद्र के जीवन के प्रमुख तथ्य भी इसी में संकलित हैं। इन्हीं के आधार पर छोटे बड़े अनेक पुराणों का प्रणयन किया गया।[192] जैन पुराणों के प्रादुर्भाव

में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक स्थितियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।[193] इन पुराणों का समय गुप्तोत्तर काल है। उस समय देश संकट काल के दौर से गुजर रहा था। जैन धर्म देश के विभिन्न भागों में प्रसरित था। जैनधर्म को राजे, महाराजाओं का संरक्षण भी प्राप्त था। गुप्त युग संस्कृत साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता है। "रामायण", "महाभारत", "पुराण" तथा धर्मशास्त्र अन्तिमता को प्राप्य थे। कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति आदि की वाणी से संस्कृत साहित्य "सुरभित" हो रहा था। रामायण एवं महाभारत परमप्रिय हो गये थे। परम्परागत पुराणों को अन्तिम रूप दिया जा रहा था। जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और बौद्धों के भगवान बुद्ध को ब्राह्मण धर्म के अवतारों में गृहीत कर लिया गया था। धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन हो रहा था। परम्परागत पुराणों में बुद्ध को अवतार मानते तथा बौद्ध धर्म का समाहार करने की प्रवृत्ति विशेष दिखायी देती है। आख्यानों के माध्यम से बौद्ध धर्म को पौराणिक धर्म में स्वीकृति करने की चेष्टा की गयी है।[194] विष्णुपुराण में वर्णित है कि कंक, कोंकण, वेंकट, कुटक, ऋषभ के अनुयायी नग्न अर्हत् रहते थे। ये लोग कलियुग में व्यवस्था को ध्वस्त कर ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड, यज्ञ एवं वेदों का विरोध करेंगे।[195] ये दैत्य अर्हत् कहे गये हैं। माया मोह को जैनधर्म का प्रवर्तक वर्णित किया है। भागवतपुराण के पाँचवें स्कन्ध के प्रथम छः अध्यायों में ऋषभदेव के वंश, जीवन व तपश्चरण का वृत्तान्त प्राप्य है, जो जैन पुराणों के वर्णनों से साम्यता रखता है।[196] जैन धर्म मूलतः अहिंसा, तप, त्याग, ज्ञान एवं वैराग्यप्रधान था, परन्तु युग की माँग के अनुसार जैन विद्वानों ने न केवल संस्कृत में अपितु प्राकृत एवं अपभ्रंश में भी अनेक प्रकार की रचनाओं का सृजन किया।

जैन विद्वानों ने न केवल रामायण एवं महाभारत की कथाओं एवं पात्रों को जैन पुराणों में निबद्ध किया, अपितु परम्परागत पुराणों के कतिपय नामों को भी जैन पुराणों का नाम दिया। उदाहरणार्थ पद्मपुराण, महापुराण।

उन्होंने अलौकिक तथा अविश्वसनीय घटनाओं के स्थान पर सरल तर्कसंगत तथा बोधगम्य घटनाओं को अपने पुराणों में स्थान दिया। यह साहित्य सामान्यतया दिगम्बरों में पुराण तथा श्वेताम्बरों में चरित्र या चरित नाम से अभिहित है।[197] आधार ग्रन्थों तथा विषयवस्तु के आधार पर जैन पुराणों को सामान्यतया चार भागों में विभाजित किया जा सकता है।[198]

(क) रामायण विषयक पुराण,

(ख) महाभारत पर आधारित पुराण,

(ग) त्रिषष्टिशलाकापुरुष विषयक पुराण,

(घ) तिरसठ शलाका पुरुषों के स्वतन्त्र पुराण ।

<u>(क) रामायण विषयक पुराण :-</u> रामायण विषयक अतीतकालीन जैनपुराण विमलसूरि का प्राकृत में निबद्ध पउमचरियं है।याकोबी ने इसकी तिथि तृतीय शती ई० मानी है, परन्तु अधिकांश विद्वानों ने इसकी तिथि वि० सं० 530 निर्धारित किया है। इसमें श्वेताम्बर, दिगम्बर तथा मापनीय सभी सम्प्रदायों का समावेश उपलब्ध है। इसमें राम के जीवन का वर्णन है, जो कि वाल्मीकि रामायण से साम्य रखता है।

विमलसूरि ने रामायण की जिस परम्परा को प्रतिपादित किया, उसी को परवर्ती अनेक जैनाचार्यों ने अपनाया। "पउमचरियं" के आधार पर 677ई० में जैनाचार्य रविषेण ने सर्वप्रथम संस्कृत में "पद्मपुराण" लिखा। स्वयम्भू ने अपभ्रंश में "पउमचरिउ" की रचना की। रामविषयक यह कथा गुणभद्रकृत संस्कृत "उत्तर-पुराण" पुष्पदन्तकृत अपभ्रंश "महापुराण" और हेमचन्द्रकृत संस्कृत "त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित" में उपलब्ध है। पद्मपुराण की तिथि के विषय में उक्त पुराण में ही वर्णित है कि महावीर के निर्वाण के 1203 वर्ष 6 माह पश्चात

पदममुनि का चरित्र निबद्ध किया गया। यदि महावीर निर्वाण से 470 वर्ष वि० सं० माना जाय तो इसकी रचना वि० सं० 733 अर्थात् 677 ई० में हुई। जैन धर्म में पद्म (राम), लक्ष्मण तथा रावण त्रिषष्टिशलाकापुरुषों में परिगणित हैं। जैन मान्यतानुसार प्रत्येक कल्प में तिरसठ महापुरुष होते हैं, चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र या बलदेव, नौ नारायण या वासुदेव तथा नौ प्रतिनारायण या प्रतिवासुदेव। अन्त में सभी को जैन- दीक्षा में दीक्षित किया गया है।

(ख) महाभारत पर आधारित पुराण :- महाभारत की कथा पर आधारित जिनसेनाचार्य द्वारा विरचित संस्कृत का हरिवंशपुराण इस प्रकार सर्वप्रथम पुराण है। हरिवंशपुराण की तिथि शक सम्वत् 705 (783 ई०) मानी गयी है। हरिवंशपुराणकार ने गुरु परम्परा को अपने ग्रन्थ का आधार बनाया है।

हरिवंशपुराण में विशेषत: बाइसवें तीर्थंकर "नेमिनाथ" का चरित्र लेखन अभीष्ट है, परन्तु अन्य कथानक भी इसमें उल्लिखित हैं। इसमें नेमिनाथ के साथ नारायण और बलभद्र पद के धारक श्रीकृष्ण और राम का भी चरित उपन्यस्त है।

(ग) त्रिषष्ठिशलाकापुरुष विषयक पुराण :- जैन परम्परा में सर्वप्रथम तिरसठ शलाकापुरुष, चौबीस तीर्थंकर (ऋषभदेव, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयोनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अमरनाथ, मल्लिनाथ, सुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर)[200] बारह चक्रवर्ती (भरत, सगर, सनत्कुमार, मघवा, शान्ति, कुन्थु, अर, सुभूम, महापद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त)[201], नौ बलदेव (विजय, अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दिषेण, नन्दिमित्र, राम, पद्म)[202] नौ नारायण (त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू,

पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषपुण्डरीक, दत्त (पुरुषदत्त) नारायण (लक्ष्मण),
कृष्ण)[203] तथा नौ प्रतिनारायण[204] (अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुम्भ,
बलि, प्रहरण, रावण, जरासंध) हैं।

हुंडावसर्पिणी काल में अट्ठावन शलाकापुरुष का उल्लेख है। नौ नारद
(भीम, महाभीम, रुद्र, महारुद्र, काल, महाकाल, दुर्मुख, नरकमुख, अधोमुख)[205]
बारह रुद्र (भीमावली, जितशत्रु, रुद्र, वैश्वानर, सुप्रतिष्ठ, अचल, पुण्डरीक,
अजितंधर, अजितनाभि, पीठ, सात्यकिपुत्र, बल)[206], चौदह कुलंकर (प्रतिश्रुति,
सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वी,
अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मेरुदेव, प्रसेनजित, नाभिराय)[207], चौबीस कामदेव आदि
को मिलाने से 169 शलाकापुरुषों का उल्लेख मिलता है। इनके जीवनचरित्र के
आधार पर पुराणों की रचना की गयी है जिसमें संस्कृत का महापुराण सर्व-
प्रथम माना जाता है। महापुराण के दो भाग हैं- आदिपुराण और उत्तर-
पुराण। भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित आदिपुराण के दो खण्ड हैं, इनमें प्रथम
खण्ड में एक से पच्चीस तक तथा दूसरे खण्ड में छब्बीस से सैंतालिस पर्व। उत्तर
पुराण में 48 से 73 पर्व हैं।आदिपुराण के एक से बयालीस पर्व तथा तैंतालिस
पर्व के तीन श्लोक जिनसेन और इसके बाद के चौथे श्लोक से तिहत्तर पर्व तक
जिनसेन के शिष्य गुणभद्र द्वारा प्रणीत हैं।

महापुराण के तिथि निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है तथापि महापुराण
के अध्ययन तथा तत्कालीन ग्रन्थों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि
आदिपुराण एवं उत्तरपुराण की रचना क्रमशः 9वीं एवं 10वीं शती में हुई
थी। जिनसेन वीरसेन स्वामी के शिष्य थे। उन्होंने समस्त शलाकापुरुषों का
चरित्र लिखने की इच्छा से महापुराण की रचना प्रारम्भ की थी परन्तु वे
मात्र तीर्थंकर, ऋषभदेव एवं भरत का ही वर्णन कर सके। अन्य शलाकापुरुषों
का वर्णन उनके शिष्य गुणभद्र ने अत्यन्त संक्षेप में किया है।

आदिपुराण पुराणकाल के संधिकाल की रचना है। अतः यह न केवल पुराणग्रन्थ है, अपितु काव्यग्रन्थ है, काव्यग्रन्थ ही नहीं महाकाव्य भी है। यह संस्कृत साहित्य का अनुपम रत्न है। इसमें सभी विषयों का वर्णन है। महापुराण में वर्णित है कि यह पुराण महाकाव्य, धर्मकथा, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, आचारशास्त्र और युद्ध की श्रेष्ठ व्यवस्थासूचक महान इतिहास है।[208]

आदिपुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके सुत चक्रवर्ती भरत का ही वर्णन है। उत्तरपुराण में गुणभद्र द्वारा द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ सहित तेइस तीर्थंकर, ग्यारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और जीवन्धर स्वामी आदि कुछ विशिष्ट पुरुषों के कथानक उपन्यस्त हैं, यदि वे जीवित रहते और उस विधान से अन्य कथा नायकों का वर्णन करते तो यह महापुराण संसार के समस्त पुराणों तथा काव्यों से विशाल होता।[209]

महापुराण के आधार पर त्रिषष्टिशलाकापुरुष विषयक अधोलिखित पुराण एवं चरित्र नामधारी ग्रन्थों की रचना हुई है -

1- पुराणनामधारी ग्रन्थ -

क्रम सं०	ग्रन्थ का नाम		लेखक का नाम		रचनाकाल
1 -	महापुराण (त्रिषष्टि-महापुराण या त्रिषष्टि-शलाकापुराण)		मुनिमल्लिषेण	-	शक सं० 969 सं० 1104
2-	पुराण - सार	-	श्रीचन्द्र	-	सं० 1077
3-	पुराण - सार	-	अज्ञात	-	------
4-	पुराण - सार	-	सकलकीर्ति	-	------
5-	महापुराण	-	पुष्पदन्त	-	965 ई०

क्रम सं0	ग्रन्थ का नाम		लेखक का नाम	रचनाकाल
6-	पुराणसारसंग्रह	-	दामनन्दि	- 11वीं से 13वीं शती के मध्य
7-	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित	-	हेमचन्द्र	- सं0 1216 - 1228
8-	त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र	-	आशाधर	- सं0 1292
9-	आदिपुराण	-	सकलकीर्ति	- सं0 1520
10-	उत्तरपुराण	-	सकलकीर्ति	- सं0 1520
11-	आदिपुराण (कन्नड)	-	कविपंप	-
12-	आदिपुराण (कन्नड)	-	भट्टारक चंद्रकीर्ति-	17वीं शती
13-	कर्णामृतपुराण	-	केशवसेन	1688
14-	लघुमहापुराण या लघुत्रिषष्टिलक्षणमहापुराण	-	चन्द्रमुनि	

2- चरित्र या चरित नामधारी ग्रन्थ -

क्रम सं0	ग्रन्थ का नाम		लेखक का नाम		रचनाकाल
1-	त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र	-	आशाधर	-	सं0 1292
2-	राममल्लाभ्युदय	-	उपाध्याय पद्मसुन्दर		-
3-	चउप्पन्नमहापुरिसचरिय	-	विमलमति या शीलाचार्य-		सं0 925
4-	कहावलि	-	भद्रेश्वर सूरि	-	सं0 1243
5-	चउप्पन्नमहापुरिसचरिय (प्राकृत)	-	आम्र	-	सं0 1190
6-	चतुर्विंशतिजिनेन्द्र संक्षिप्त चरितानि	—	अमरचन्द्रसूरि	-	1238 ई0
7-	महापुरुषचरित	-	मेरुतुंग	-	1306 ई0
8-	लघुत्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित	-	मेघविजय उपाध्याय-		18वीं शती

क्रम सं०	ग्रन्थ का नाम		लेखक का नाम		रचनाकाल
9-	लघुत्रिषष्ठि	-	सोमप्रभ	-	-
10-	त्रिषष्ठिशलाका-पुरुषचरित्र	-	विमलसूरि	-	-
11-	" "	-	वज्रसेन	-	-
12-	त्रिषष्ठिशलाका-	-	कल्याणविजयके शिष्य	-	--
13-	त्रिषष्ठिशलाकापुरुष विचार	-	अज्ञात		-

(ब) तिरसठ शलाकापुरुषों के स्वतन्त्र पुराण :- रामायण, महाभारत कथाओं तथा तिरसठशलाकापुरुषों के पौराणिक महापुराणों के संक्षिप्त रूपों के पश्चात् तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों आदि के जीवन-चरित विशेष तौर पर लिखे गये। 10वीं से 18वीं शती ईसवी तक ये रचनाएँ निर्बाध गति से लिखी जाती रहीं। 12वीं एवं 13वीं शती ईसवी में ये रचनाएँ अधिक मात्रा में लिखी गयीं और आगे की शताब्दियों में भी इनका क्रम बना रहा। महापुराण में ऐसी रचनाओं को पुराण की संज्ञा दी गई है।[210] तीर्थंकरों में सर्वाधिक रचनाएँ शान्तिनाथ पर हैं, द्वितीय स्थान पर बाइसवें नेमि तथा 23वें पार्श्वनाथ हैं, तृतीयक्रम में आदि जिन वृषभ, अष्टम चन्द्रप्रभ और अन्तिम तीर्थंकर पर चरितकाव्यों की रचना हुई। ये रचनाएँ प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश में लिखी गयी हैं। इनमें महत्वपूर्ण "पुराण" नामधारी पुराणों का उल्लेख निम्नवत है -

क्रम सं०	ग्रन्थ का नाम		लेखक का नाम		रचनाकाल
1-	वर्धमानपुराण	-	जिनसेन	-	तीसरी शती
2-	शान्तिनाथपुराण	-	असगकवि	-	10वीं शती
3-	महावीरपुराण	-	"	-	910 ई०
4-	चामुण्डपुराण (कन्नड़)	-	चामुण्डराय	-	शक सं० 980
5-	पार्श्वपुराण (अपभ्रंश)	-	पद्मकीर्ति	-	999 ई०

क्र सं0	ग्रन्थ का नाम		लेखक का नाम	रचनाकाल
6-	अनन्तनाथपुराण	-	श्री जिनाचार्य	- सं0 1209
7-	महावीरपुराण	-	भट्टारक सकलकीर्ति	— 15वीं शती
8-	मल्लिनाथपुराण	--	" "	- " "
9-	शान्तिनाथपुराण	-	भट्टारक श्रीभूषण	- सं0 1659
10-	पार्श्वपुराण [अपभ्रंश]	-	कवि रइधू	- 15-16वीं शती
11-	जयकुमारपुराण	-	ब्र0 कामराज	- सं0 1555
12-	नेमिनाथपुराण	-	ब्र0 नेमिदत्त	- सं0 1575
13-	पार्श्वनाथपुराण	-	वादिचन्द्र	- सं0 1688
14-	कर्णामृतपुराण	-	केशवसेन	- सं0 1688
15-	पद्मनाभपुराण	-	भट्टारक शुभचन्द्र	- 17वीं शती
16-	अजितपुराण	-	अरुणमणि	- सं0 1716
17-	चन्द्रप्रभपुराण	-	कविअगासदेव	- --
18-	धर्मनाथपुराण [कन्नड]	-	कवि बाहुबलि	- -
19-	मल्लिनाथपुराण [कन्नड]	-	कवि नागचन्द्र	- -
20-	मुनि सुव्रतपुराण	-	ब्रह्म कृष्णदास	- -
21-	मुनि सुव्रतपुराण	-	भट्टाकर सुरेन्द्रकीर्ति	- -
22-	वागर्थसंग्रह	-	कवि परमेष्ठी	- -
23-	श्रीपुराण	-	भट्टारक गुणभद्र	- -

जैनों में महापुराण का वही स्थान है जो महाभारत एवं रामायण का हिन्दुओं में है।

1- महापुराण संधिबद्ध रचना है। इसमें 102 संधियाँ हैं, जो अनेक कड़वकों में विभाजित हैं, इसकी समस्त संधियाँ अपने- अपने प्रसंगानुसार नामांकित हैं, यथा अयोध्या नगरी का वर्णन करने वाली द्वितीय संधि का नाम "उज्झाणयरी-

वण्ण णं" तथा जिन- जन्माभिषेककल्याणक का वर्णन करने वाली तृतीय संधि का नाम "जिणजम्माहिसेयकल्लाणं" है। इसी प्रकार अन्य संधियों के भी नामकरण किये गये हैं।

2- इसके सभी नायक जैन- परम्परा निबद्ध 63 शलाकापुरुष अर्थात् महापुरुष तथा राजवंशोत्पन्न सत्कुलीन व्यक्ति हैं।[211]

3- रस की दृष्टि से महापुराण शान्त रस पर्यवसायी है। आवश्यकतानुसार इसमें वीर, श्रृंगार आदि अन्य रसों का भी समुचित समावेश हुआ है।[212]

4- महापुराण का कथानक जैनधर्मानुगत 63 महापुरुषों के जीवनचरितों से सम्बन्धित है अर्थात् इसमें जैन- परम्परा प्रसिद्ध कथानक का प्रयोग हुआ है। कथानक का प्रारम्भ दो व्यक्तियों के प्रश्नोत्तर से हुआ है। दोनों व्यक्ति राजा श्रेणिक और गौतम गणधर हैं।[213] बीच में भी अनेक स्थलों पर कथा-प्रवाह को सुव्यवस्थित रखने के लिए प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग किया गया है। यथा- रामायण की कथा- प्रारम्भ का प्रसंग आदि।[214]

5- महापुराण का प्रमुख गुण पाप का नाश करना तथा चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विस्तार करना बताया गया है।[215] मुख्य रूप से फल- धर्म के निरूपण में बताया गया है कि धर्म से कल्पामरेन्द्र अर्हतादि पद, सौभाग्यरूप कुलशील, पौरुष क्षमादि मानवीय गुणों के साथ ही अन्य अगणित फल प्राप्त होते हैं।[216] जीवन में जो भी करने के योग्य है, उनमें धर्म को सर्वप्रथम स्वीकार किया गया है।[217] इसी से पुत्र- कलत्रादि भौतिक सुखों की प्राप्ति भी बतायी गयी है।[218]

6- महापुराण में कर्म को सर्वोपरि माना गया है। इसमें उद्धृत है कि जो व्यक्ति जैसा कर्म करेगा वैसा उसे फल प्राप्त होगा। महापुराण कर्म करने को श्रेय प्रदान करता है।[219]

7- महापुराण का प्रारम्भ आदि तीर्थंकर ऋषभ की स्तुति से हुआ है। प्रारम्भ में ही हमें दुर्जन- निन्दा कवि की विनम्रता एवं सज्जन-प्रशंसा के दर्शन होते हैं।[220]

8- इसमें यथास्थान राज्यसभा,[221] दूत,[222] वन- क्रीड़ा,[223] जलक्रीड़ा,[224] सूर्योदय,[225] सूर्यास्त,[226] संध्या,[227] चन्द्रोदय,[228] नदी,[229] {गंगा,[230] सीता,[231] यमुना[232]}, ऋतु,[233] {वसंत,[234] वर्षा,[235] शरद[236]}, सरोवर,[237] {नगर,[238] समुद्र,[239] पर्वत,[240] युद्ध,[241] विवाह,[242] सम्भोग,[243] वियोग,[244] आदि के विस्तृत वर्णन मिलते हैं।

9- चौबीस तीर्थंकरों के अलग- अलग चरित्र वर्णन करने वाले ग्रन्थ "पुराण" और उन सबका संकलन महापुराण कहलाता है।[245]

10- महापुराण की भाषा जनभाषा होने के साथ ही साथ अलंकृत भी है। इसमें भावों को स्पष्ट करने के लिए अलंकारों का समुचित प्रयोग प्रशंसनीय है।[246]

11- महापुराण की रचना जैनधर्मानुगामी है, अतः इसमें जैनमत का ही प्रतिपादन किया गया है।[247]

12- महापुराण में 63 महापुरुषों के समग्र जीवन का वर्णन है जो इसके कथानक से स्पष्ट है।[248]

13- महापुराण में उसके समस्त नायकों के पूर्वजन्मों, अनेक गौण-पात्रों तथा अवान्तर कथाओं का समावेश हुआ है।[249]

14- महापुराण में अनेक अलौकिक तत्वों का भी समावेश दिखलायी पड़ता है। ये दिव्यलोकों, दिव्यपुरुषों और दिव्यगुणों की कल्पनाओं से

भरे हुए हैं। विद्याधर, यक्ष आदि पात्रों का समावेश भी प्रचुरता से हुआ है जैसे - विद्याधर - अशनिवेग आदि,[250] यक्ष - जयपाल आदि ।[251]

15- प्रतिनायकों के जीवन- चरित भी महाकाव्योचित गुणों यथा वंश, बल, विद्या आदि से युक्त हैं। उदाहरणार्थ रावण, जरासंध आदि प्रतिवासुदेवों के जीवन- चरित्र देखे जा सकते हैं।

अतः पुष्पदन्त के महापुराण के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उनकी तीन ही मुख्य कृतियाँ हैं - महापुराण, णायकुमारचरिउ, तथा जसहर-चरिउ। महाकवि की ये तीनों कृतियाँ मानव- जीवन के उत्थान में सहायक है। इसमें बुरे स्वप्न का नाश होकर अभीष्ट फल की प्राप्ति बतायी गयी है।[252] इसीलिए जैनाचार्यों ने जैन महापुराण के श्रवण एवं कथन पर विशेष बल दिया है।[253] सांस्कृतिक इतिहास का संचित भण्डार महापुराणों में ही मिलता है।[254]

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1- कासवगोत्तिं, केसवपुत्तिं । जO चO 4/31/3
कासवगोत्तें केसवपुत्तें । महाO 38/4/3

2- मु[illegible]दटपुत्तु - णाO कुO चO 1/2/1

3- णाO कुO चO की कविप्रशस्ति, पंक्ति- 10

4- वही, 9/5/1, 9/14/10

5- जO चO 4/31/4, महाO 1/8/8

6- वही, 4/31//29-30

7- महाO 1/6/10-12

8- जैन साहित्य और इतिहास, पृO- 226

9- णाO कुO चO की कवि प्रशस्ति, पंक्ति- 10

10- महाO 10/5/1-8, 65/12/6-7

11- मO कO पुO, पृO- 71

12- जैन साहित्य और इतिहास, पृO- 225

13- णाO कुO चO 9/5/5, 9/12-13

14- महाO 1/3/6, 1/9/12, 38/4/2, जO चO 4/31/2,

15- णाO कुO चO 1/5/1, जO चO 4/31/7

16- महाO 1/7/1

17- वही, 1/6/2

18- महाO 1/6, सन्धि-3, संO 39

19- महाO 1/3/12, सन्धि - 45, णाO कुO चO 1/2/2

20- वयसंघुत्तिं उत्तमसत्तिं किमालयसंकिं अहिमाणकिं ।- ज0च0 4/31/3

21- महा0 1/4/10

22- वही, 1/8/1, ज0 च0

23- वही

24- महा0 1/8/8 , 38/3/5, णा0कु0च0 अन्तिम पद्य

25- तुह सिद्ध हि वाणीधेणुयहि णवरसखीरूण दोहीह । -महा0 38/3/10

26- णा0 कु0 च0 9/5/2, 9/14/10

27- म0 क0 पु0, पृ0- 73-77

28- महा0 भाग-3 की भूमिका, पृ0- 14

29- वही, 1/6/1

30- मही, 3/5/5-32, 38/12/1-21, 40/4/1-4, 41/4/15-28, 42/4/4-10, 43/5/1-19, 44/4/1-9, 46/3/1-22, 47/7/1-6, 48/6/4-14, 49/6/3-10, 53/5/1-10, 55/5/1-8, 58/5/1-13, 59/3/12, 59/4/5, 63/2/7-11, 64/4/1-7, 65/3/6-9, 67/4/12, 67/5/8, 68/4/1-14, 80/6/4-11, 87/12/3-11, 94/14/1-14, 96/8/3-12.

31- वही

32- ज0 च0 4/31/ 4-6

33- महा0 38/5/10, 102/14/8, णा0 कु0 च0 कविप्रशस्ति, खण्ड-1, पंक्ति- 14, पृ0-174

34- महा0 102/14/1-12.

35- वरण्हाणविलेवणभूसणाइं दिण्णइ देवंगइं णिवसणइं । - महा0 1/6/7

36- धणु तणु समुमज्झु ण तं गहणु णेहु णिकारिमुइच्छ विं ।

39- णा0 कु0 च0, कविप्रशस्ति, खण्ड-1, पंक्ति 5-6, पृ0- 174.

40- ज0 च0 4/31/21-27

41- ज0 च0 1/4/4 , महा0 102/14/11, संधि 80 की प्रशस्ति

42- महा0 1/13/11, 1/4/6.

43- माणभंगि वरमरणु ण जीवउ - महा, 16/21/8.

.44- वही, 81/15/3-4.

45- म0 क0 पु0, पृ0- 62.

46-अ- महा0 1/4/1-5

-ब- वही, 1/7/3-6

47- महा, 1/8/2-7

48- वही, 1/3/4-5

49- संभइ जणु णीरसु णिव्विसेसु गुणमंतउ जहिं सुरगुरु विवेसु । -महा 1/4/5

50- महा, 38/4/5-7

51- महा, 38/ 4/10

52- वही, 38/2/1, 38/3/4-5

53- वही, सन्धि 80 की प्रशस्ति

54- भो पुप्फयंत पडिवण्णपणय, मुद्धाईकेसणभट्टतणय । - णा0कु0च0 1/2/5

55- णा0 कु0 च0 1/2/8

56- महा0 1/9/12, 1/11/112, 20/4/7, 36/5/11, ~~69/1/9,~~ 69/1/9

~~20/4/7, 36/5/11, 69/1/9.~~

57- वही, 38/5/1

58- वही, 38/2

59- वही, 1/3/4-5

60- महा0 81/2/7, 102/14/9, णा0 कु0 च0 1/2/2, ज0 च0 1/1/4

61- महा0 1/6/11

62- जैन साहित्य और इतिहास, पृ0- 227

63- महा0, भाग-3 की भूमिका, पृ0- 14

64- वही

65- महा0 1/3/9, 1/6/1

66- णा0 कु0 च0 की प्रस्तावना, पृ0- 16

67- सह्यादि ‹मासिक पत्रिका› का अप्रैल 1941 का अंक, पृ0 253-56
  ‹जैन साहित्य और इतिहास, पृ0- 228 पर उद्धृत›

68- महामहोपाध्याय पं0 सुधाकर द्विवेदी ने अपनी "गणिततरंगिणी" में श्रीपति का समय श0 सं0 921 वर्णित किया है - जैन साहित्य और इतिहास, पृ0-227 का पाद टिप्पणी ‹4›

69- जैन साहित्य और इतिहास, पृ0- 226-28·

70- महा0,भाग-3, पृ0- 308

71- जैसे गोज्जिग, बद्दिग, तुडिग, पुट्टिग, खोट्टिग आदि ।

72- बल्लभराय पदवी पहले दक्षिण के चौलुक्य राजाओं की थी, पीछे जब उनका राज्य राष्ट्रकूटों ने जीत लिया तब इस वंश के राजा भी इसका उपयोग करने लगे। अरब लेखकों ने मानकिरके बल्हरा नामक बलाढ्य राजाओं का जो उल्लेख किया है वह मान्यखेट के "बल्लभराज" पद धारण करने वाले इन्हीं राजाओं को ही लक्ष्य करके किया है।

73- एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द- 4, पृ0- 278

74- वंदीणदिण्णधण - कण्णपयरू महिपरि भमंतु मेलाडिण्णरू ।

75- पाण्ड्यसिंहल - चोल- चेरमपभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य ।

76- जर्नल बाम्बे ब्रान्च रा0 ए0 सो0 जिल्द-18, पृ0- 239 और लिस्ट आफ इन्सक्रप्शन्स सी0 पी0 ऐण्ड बरार, पृ0-81

77- त्रावणकोर आर्कि0 सीरीज, जिल्द-3, पृ0-143, श्लोक- 48

78- मद्रास एपिग्राफिकल कलेक्शन 1909 नं0 375

79- ए0 इं0 जि0 5, पृ0-195, 4 ए0 इ0 जि0 19, पृ0-83·

80- आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ साउथ इण्डिया, जि0-4, पृ0-201

81- ए0 इं0 जि0 5, पृ0- 179

82- वही, 11, नं0 23-33·

83- वही, 23-33

84- वही, 12, पृ0-263

85- मद्रास ए0 क0 1913 नं0 236

86- मद्रास ए0 क0 सन् 1002, नं0- 232

87- जैन साहित्य और इतिहास, पृ0- 246-50, महा0 भाग- 3 की भूमिका, पृ0-18-19 तथा णा0 कु0 च0 की हिन्दी प्रस्तावना, पृ0-16-18, ज0 च0 की हिन्दी प्रस्तावना, पृ0- 21-22·

88- महा0 1/9/1-9

89- जैन साहित्य और इतिहास, पृ0- 246-47, महा0, भाग-3 की भूमिका, पृ0- 18·

90- वही, पृ0- 247

91- महा0, भाग-1 की अंग्रेजी भूमिका, पृ0- 14

92- णा0 कु0 च0 की हिन्दी प्रस्तावना,पृ0- 17

93- णा0 कु0 च0 1/1/11-12, महा0 1/3/2-31

94- जैन साहित्य और इतिहास, पृ0- 248, महा0,भाग-3 की भूमिका, पृ0- 18-19, ज0 च0 की हिन्दी प्रस्तावना, पृ0- 21·

95- महा0 1/3/1, 102/14/12-13

96- णा0 कु0 च0 की हिन्दी प्रस्तावना, पृ0-17 तथा ज0 च0 की हिन्दी प्रस्तावना, पृ0- 21·

97- ज0 च0 की हिन्दी प्रस्तावना, पृ0- 21

98- महा0 सन्धि 50 की प्रशस्ति

99- जैन साहित्य और इतिहास, पृ0-249 तथा णा0 कु0 च0 की हिन्दी प्रस्तावना, पृ0- 17

100- जैन साहित्य और इतिहास, पृ0- 250-51, णा0 कु0 च0 की हिन्दी प्रस्तावना, पृ0- 17-18 तथा ज0 च0 की हिन्दी प्रस्तावना, पृ0-22

101- महा0 1/6/10-12

102- जैन साहित्य और इतिहास, पृ0- 240

103- महा0 1/5/10 तथा 38/2/7

104- कोंडिल्लगोत्तणहदिणमरासु - ज0 च0 1/1/3

105- महा0 1/5/9, 38/3/1, 1/5/8, णा0 कु0 च0 1/3/8

106- महा0, भाग-3, पृ0- 298 भरत की पुत्र संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। पी0 एल0 वैद्य और राजनारायण पाण्डेय उनके केवल तीन ही पुत्र मानते हैं - देविल्ल, भोगल्ल और नन्न। उनके अनुसार शोभन और गुणवर्म नन्न के पुत्र थे ‖ महा0, भाग-3, पृ0-313 और म0 क0 पु0, पृ0-79‖, पी0 एल0 वैद्य ने दंगइय और संतइय को महाकवि का सहायक माना है ‖महा0, भाग-3, पृ0-313‖, इनके विपरीत अपभ्रंश साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान हीरालाल जैन ने उपर्युक्त सभी को भरत का पुत्र लिखा है। - ‖ णा0 कु0 च0 की अंग्रेजी भूमिका, पृ0- 6‖

107- महा0, सन्धि 19 की प्रशस्ति, महो, सन्धि 7 की प्रशस्ति, वही, 1/5/10, वही, 38/2/8

108- वही, 1/5/1, 38/3/2

109- महा0, सन्धि 45 की प्रशस्ति

110- वही, सन्धि 42 तथा सन्धि 7 की प्रशस्ति

111- वही, सन्धि 13 की प्रशस्ति

112- वही, सन्धि 26 की प्रशस्ति

113- वही, 1/5/1-8

114- वही, 38/3/2-4

115- वही, सन्धि 3 की प्रशस्ति

116- वही, सन्धि 8 की प्रशस्ति

117- वही, सन्धि 6 की प्रशस्ति

118- वही, 38/5/2-6

119- वही, 1/6/9-16, 1/8/1-7, 38/3/5-10

120- ज0 च0 की प्रस्तावना, पृ0- 21

121- महा0 102/14/10

122- म0 क0 पु0, पृ0- 99

123- णा0 कु0 च0, 1/2/2

124- वही, 1/2/2, ज0 च0 1/1/4

125- णा0 कु0 च0 सन्धि-1 की पुष्पिका, ज0 च0 सन्धि 1 की पुष्पिका

126- कुंदव्वागब्भसमुब्भवस्स सिरिवरहभट्टतणयस्स ।
- णा0 कु0 च0 की कविप्रशस्ति, खण्ड-2, पंक्ति-3

127- छठाइंद बिंबसण्णिहमुहेण - णा0 कु0 च0 1/3/7

128- कोंडिल्लगोत्तणहससहरस्य पयईए सोमस्स ।
- णा0 कु0 च0 की कविप्रशस्ति, खण्ड-2, पंक्ति-2

129- ज0 च0 सन्धि 2 की प्रशस्ति

131- ज0 च0 सन्धि - 2 की प्रशस्ति

132- चाएण कण्णु जगदिण्णचाउ - णा0 कु0 च0 1/4/6

मम्मेण जुहिट्ठिरु धम्मत्तु - वही, 1/4/5

133- मुणिदिण्णदाणस्स - णा0 कु0 च0 की कविप्रशस्ति, खण्ड-2

134- दालिद्ददकंदकंदलहरेण - वही, 1/3/3

बहुदोण्णायपुरिसपओण - वही, 1/3/6

दीनयणसरणस्स - वही, कविप्रशस्ति, खण्ड-2, पंक्ति-9

135- ज0 च0 सन्धि 4 की प्रशस्ति ।

136- णा0 कु0 च0, 1/5/2-3

137- कारुण्णकंदणवजलहरस्स - णा0 कु0 च0 की कविप्रशस्ति, खण्ड-2, पं0-8

138- ज0 च0, सन्धि 3 की प्रशस्ति

139- पसरंतकित्तिबहुकुलहरेण - णा0 कु0 च0 1/3/5

140- जसपसरभरियमुअणोयरस्स - णा0 कु0 च0 की कविप्रशस्ति, खण्ड-2, पं0-4

141- ज0 च0, सन्धि-3 की प्रशस्ति

142- णा0 कु0 च0, 1/3/13 कविप्रशस्ति, खण्ड-2, पंक्ति-1

143- वही, 1/4/3, 1/3/7, 1/3/6

144- णा0 कु0 च0 की कविप्रशस्ति, खण्ड-2, पंक्ति-8

145- विच्छिण्णसरासइ बन्धवेण - णा0 कु0 च0 1/3/5

णा0 कु0 च0 की कविप्रशस्ति, खण्ड-2, पंक्ति 9-10

146- महा0, भाग-3, पृ0- 298

147- वरकव्वरयणरयणायरेण लच्छीपोमिणिणपसरेण ।

- णा0 कु0 च0 1/3/4

148- णा0 कु0 च0 की कविप्रशस्ति, खण्ड-2, पंक्ति-7

149- णिवलच्छोकीलासरवरस्स - णा0 कु0 च0 की कविप्रशस्ति, खण्ड-2, पं0-9
150- ज0 च0 1/1/3
151- गुणभीत्तिल्लउ णाणुमहल्लउ - वही, 4/31/20
152- म0 क0 पु0, पृष्ठ - 87
153- जैन साहित्य और इतिहास, पृ0- 242
154- महा0 1/6/10
155- वही, भाग-1, पृ0- 7
156- जैन साहित्य और इतिहास, पृ0- 236
157- ज0 च0 1/1/4-6
158- ज0 च0 की हिन्दी प्रस्तावना, पृ0- 20
159- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ0- 82
160- णा0 कु0 च0 की हिन्दी प्रस्तावना, पृ0- 16
161- जैन साहित्य और इतिहास, पृ0- 226
162- प्राकृत- भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ0-414
163- ज0 च0 की हिन्दी प्रस्तावना, पृ0- 21
164- महा0, सन्धि- 59 की कविप्रशस्ति
165- महापुराण का द्वितीय प्रकरण, प्रथम खण्ड ।
166- णा0 कु0 च0, 1/2/2, 1/4/12
167- वही, 1/1/11-12
168- जसहर चरिउ की हिन्दी प्रस्तावना, पृष्ठ-21
169- ज0 च0, 1/1/4
170- ज0 च0 की सभी सन्धियों की पुष्पिकाएँ
171- ज0 च0 4/31/13-16
172- वही, 4/30/1-14

173- ज0 च0 1/8/15-17

174- वही, 1/27/23, 4/30/14

175- ज0 च0 की अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ0- 57-60

176- ऋग्वेद, 3/5/49

177- वही, 9/99/4

178- अथर्ववेद, 11/7/27

179- वही

180- गोपथब्राह्मण, 1/2/10

181- वही, 1/1/10

182- बलदेव उपाध्याय - पुराण- विमर्श 1965, पृ0-11

183- एस0 एन0 राय - पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद- 1973, पृ0 28-29

184- वही, हिस्टारिकल ऐण्ड कल्चरल स्टडीज, इन द पुराणाज, इलाहाबाद 1978, पृ0- 5.

185- महा0 1/22-23

186- पुराण के ये लक्षण कुछ पाठ - भेद से या समान रूप से इन पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं - अग्निपुराण, 1/14, विष्णुपुराण, 3/6/25, भविष्य पुराण - 2/4, मार्कण्डेयपुराण - 124/13, वायुपुराण - 4/10, स्कन्दपुराण (रेवाखण्ड) 81/12, मत्स्यपुराण - 53/64, गरूड़पुराण - 2/27, ब्रह्माण्डपुराण (प्रक्रिया पाद) - 1/38 तथा कूर्मपुराण 1/12

187- ब्रह्मवैवर्तपुराण - 111/3-5

188- भारतीय संस्कृति में जैन- धर्म का योगदान, पृ0- 79

189- आदि0 4/3, महा0 20/1/4-5

190- पुराणान्येवमेतानि चतुर्विंशतिरर्हताम् ।
महापुराणमेतेषां समूह: परिभाष्यते ।।
- आदि0 2/134

191- महा0 1/9/13

192- आदि0, प्रस्तावना, पृ0- 7

193- गुलाबचन्द्र चौधरी - जैन साहित्य का वृहद इतिहास, वाराणसी- 1973, पृ0- 8-19

194 - एस0 एन0 राय - पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, 1968, पृ0- 35

195- एच0 एच0 विल्सन - द विष्णुपुराण - ए सिस्टम ऑफ हिन्दू मैथालोजी ऐण्ड ट्रेडीशन, कलकत्ता, 1961, पृ0- 133

196- हीरालाल जैन - भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, भोपाल, 1942, पृ0- 11

197- विंटरनित्ज - ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-2, नई दिल्ली, 1977, पृ0-491 के0 ऋषभचन्द्र - जैनपुराण साहित्य, श्री महावीर जैन विद्यालय, सुवर्ण महोत्सव ग्रन्थ, भाग-1 बम्बई-1968, पृ0-72

198- गुलाबचन्द्र चौधरी - पृ0- 35-230 तथा डॉ0 देवीप्रसाद मिश्र - जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 8-16

199- पद्मपुराण , 123/182·

200- वही, 5/212-216, 9/185-189, 20/18-30,
हरिवंश, 60/ 142-163, महा0 20/36-60, 76/476-4180·

201- वही, 5/222-223, महा0 20/124-204, 36/1-220, 76/282-288,
हरिवंश 60/286-287, 60/563-65·

202- वही, 20/205-242, हरिवंश 60/290, महा0 76/485-486·

203- वही, 20/205-228, हरिवंश 60/288-289, महा0 68/666-677;
57/90-94, 71/124-128·

204- वही, 20/242-248, हरिवंश 60/291-292·

205- हरिवंश, 60/548·

206- वही, 60/534-536·

207- पद्म0 3/75-88, हरिवंश 7/125-170, 255/270, महा0 70/463-466·

208- महा0, प्रस्तावना, पृ0- 28·

209- महा0, वही, पृ0 26/40

210- वही, 1/22-23·

211- द्वितीय प्रकरण, खण्ड(क)- संक्षिप्त कथानक।

212- वही, सप्तम प्रकरण, भाव- पक्ष

213- महा0 2/4/3-5·

214- वही, 69/3·

215- पावणासु चउवग्गाइण्णउं जेम महापुराण अवइण्णउं ।

- महा0 2/4/4·

216- वही, 20/16/3-9·

241- वही, 52/15-25, 77/9/78/19.

242- वही, 24/13, 51/15/1-6.

243- वही, 4/14, 24/14.

244- वही, 22/9/1-12, 73/4-13.

245- आदि0 2/134

246- प्रस्तुत निबन्ध का अष्टम प्रकरण, वही, खण्ड (ग) अलंकार

247- वही, षष्ठ प्रकरण के अन्तर्गत धार्मिक आदर्श ।

248- वही, द्वितीय प्रकरण, खण्ड (क)- संक्षिप्त कथानक।

249- वही, द्वितीय प्रकरण, खण्ड (क)- संक्षिप्त कथानक।

250- महा0 23/10/3.

251- वही, 32/6/11.

252- वही, 1/207.

253- हरिवंश0 1/70.

254- फूलचन्द, जैनपुराण साहित्य, श्रमण, 1953 वर्ष- 4, अंक 7-8, पृष्ठ 36 तथा महा0, प्रस्तावना, पृ0- 20.

द्वितीय - अध्याय

सामाजिक - संगठन

महापुराण में सामाजिक जीवन का सुन्दर और व्यवस्थित चित्रण है। व्यक्ति की वैयक्तिक स्थिति समाज के बिना सम्भव नहीं है। व्यक्ति की वैयक्तिकता का अर्थ इतना ही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आचरण और क्रिया-व्यापारों को परिष्कृत करे। उत्थान और पतन दोनों ही व्यक्ति के अपने अधीन हैं। अतः वैयक्तिकता मनुष्य का वह गुण है, जिसके कारण वह स्वतः के विचारों के आधार पर कार्य करता है तथा अपने जीवन को परिष्कृत कर शाश्वत सुख लाभ करता है। समाज के विभिन्न आदर्श और नियन्त्रण जन-रीतियों, प्रथाओं और रूढ़ियों के रूप में पाये जाते हैं। अतः नियन्त्रण में व्यवस्था स्थापित करने एवं पारस्परिक निर्भयता बनाये रखने के हेतु यह आवश्यक है कि इनको एक विशेष कार्य के आधार पर संगठित किया जाय। इस संगठन का नाम ही सामाजिक संगठन है। चार्ल्स हार्टनकूले ने सामाजिक संगठन का स्वरूप निर्धारित करते हुए लिखा है - "सामाजिक संगठन किसी अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति के लिए सामाजिक विरासत में स्थापित सामूहिक व्यवहारों का एक जटिल तथा घनिष्ठ संगठन है।"[1] स्पष्ट है कि मानव सामूहिक हितों की रक्षा एवं आदर्शों के पालन करने के लिए सामाजिक संगठनों को जन्म देता है।

प्रारम्भिक स्वरूप एवं कुलकर परम्परा -

महापुराण का समाज पारिवारिक जीवन से आरम्भ होता है। सृष्टि के आरम्भ में भोगभूमि थी।[2] उसके पश्चात् कर्मभूमि का आरम्भ हुआ।[3] भोग-भूमि में जीवन पूर्णरूपेण भोगमय था। भोगभूमि में सभी वस्तुएँ विभिन्न प्रकार के कल्पवृक्षों,[4] मद्याङ्ग, तूर्याङ्ग, विभूषाङ्ग, स्रगङ्ग (माल्याङ्ग), ज्योतिरङ्ग, दीपाङ्ग, गृहाङ्ग, एवं

भोजनाङ्ग, पात्राङ्ग तथा वस्त्राङ्ग से प्राप्त होती थी। इसकी पुष्टि आदि पुराण[5] तथा पद्मपुराण[6] से भी होती हैं। चिरकाल तक भोगों को जीवनपर्यन्त भोग कर लोग स्वर्ग जाते थे। इस युग में यौगलिक व्यवस्था थी। एक युगल जन्म लेता और वही अन्य युगल को जन्म देने के बाद समाप्त हो जाता। इस प्रकार के अनेक युगल थे। उसी युग में चौदह कुलकरों के उत्पन्न होने का वर्णन है - प्रतिश्रुति कुलकर, सन्मति कुलकर, क्षेमंकर कुलकर, क्षेमंधर कुलकर सीमंकर कुलकर, सीमंधर कुलकर, विमल वाहन कुलकर, चक्षुष्मान कुलकर, यशस्वी कुलकर, अभिचन्द्र कुलकर, चन्द्राभ कुलकर, मरूदेव कुलकर, प्रसेनजित कुलकर, नाभिराजा कुलकर।

महापुराण की मान्यतानुसार कुलकर एक सामाजिक व्यवस्था के प्रतिपादक थे। कुलकरों का भोग एवं त्याग से समन्वित जीवन को [illegible] करना, जीवन-मूल्यों को नियमबद्ध कर एकता एवं नियमितता प्रदान करना, मनुष्य के नैतिक कर्मों का संकेत करना, क्रियाकलापों को नियन्त्रित करने के लिए अनुशासन की स्थापना करना, सामाजिक प्राणी के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना, शान्ति एवं संतुलन का प्रतिपादन करना, [illegible], रीतिरिवाज एवं सामाजिक अर्हताओं की प्राप्ति का प्रतिपादन करना, सामाजिक गठन एवं सामूहिक क्रियाओं का नियन्त्रण करना तथा सामाजिक कल्याण करना प्रमुख उद्देश्य था।[8] इसी प्रकार का कथन आदिपुराण, पद्मपुराण तथा हरिवंशपुराण से भी उपलब्ध होता है।[9] हरिवंशपुराण में वर्णित है कि तेरहवें कुलकर प्रसेनजित के पूर्व युगल उत्पन्न होते थे। सर्वप्रथम मरूदेव ने अयुग्म- एक सन्तान प्रसेनजित को उत्पन्न किया।[10]

महापुराण की कुलकर संस्था वैदिक वाङ्मय में मन्वन्तर संस्था के समान प्रतीत होती है। ब्राह्मण धर्म में चौदह मन्वन्तर (मनुओं) का उल्लेख मिलता है जिनमें सात धर्म (सुगति) मनु तथा सात अधर्म (कुगति) मनु थे। पहले पूर्ववर्ती सात कुलकरों के समय भोगभूमि की स्थिति थी जिसमें माता-पिता संतान का सुख नहीं देख पाते थे

और दूसरे उत्तरवर्ती सात कुलकरों के समय भोगभूमि एवं कर्मभूमि की स्थिति थी जिसमें माता-पिता उनकी व्यवस्था के लिए चिन्तित होते थे[11] महापुराण में कुलकर को प्रजा के जीवन के उपाय जानने, आर्य पुरुषों को कुल की भाँति इकट्ठा रहने का उपदेश से कुलकर अनेक वंश स्थापित करने से कुलधर और युग के आदि में होने से युगादिपुरुष कहा गया है। महापुराण में नाभिराजा अन्तिम कुलकर थे।[12] उन्होंने पूरी व्यवस्था को प्रतिपादित कर मनुष्यों को संयमित एवं अनुशासित रहने का उपदेश दिया। इसी समय कर्मभूमि का आविर्भाव हुआ। इसी कर्मभूमि के आधार पर फल की व्यवस्था प्रतिपादित किया। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प जैसी कलाओं का जन्म भी इसी समय हुआ। महापुराण में इसी युग को "कर्मभूमि" कहा गया है[13]

वर्ण - व्यवस्था

वर्णव्यवस्था और महापुराण मान्यता :-

भारत के सामाजिक इतिहास में वर्णव्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है जो सामाजिक विभाजन के रूप में वैदिक काल से आज तक उत्तर से दक्षिण तक किसी न किसी रूप में प्रवहमान है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय समाज का वर्णों में विभाजन किया गया था। आर्यों ने इस विभाजन के अन्तर्गत यह व्यवस्था भी रखी थी। कोई व्यक्ति कार्य-पद्धति, रुचि और मनःस्थिति के अनुसार वर्ण परिवर्तन कर सकता था किन्तु ऐसी विकल्पना व्यवहार में विरल ही थी तथा उत्तर वैदिक काल के परवर्ती युग तक आते- आते व्यवस्था का यह लचीलापन समाप्त हो गया था। महापुराणकालीन समाज छोटे- छोटे वर्गों में बँटा हुआ था। आचार्य

जिनसेन ने उन सभी वैदिक नियमोपनियमों का जैनीकरण कर उन पर जैन धर्म की छाप लगा दी थी जिन्हें वैदिक प्रभाव से प्रभावित होने के उपरान्त भी जैन समाज मानने लगा था।[14] महापुराण में पूर्वोक्त तथ्य को सुरक्षित रखने के बाद भी ब्राह्मण ग्रन्थों की भांति चार[15] वर्णों के पृथक्-पृथक् कार्य उनके सामाजिक एवं धार्मिक अधिकार, चार आश्रमों[16] और संस्कारों (तिरपन गर्भान्वय, अड़तालीस दीक्षान्वय एवं आठ कर्त्रन्वय क्रियाओं) का विस्तारशः वर्णन किया है।

वर्णव्यवस्था और उसका स्वरूप :-

वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में महापुराण में महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है जो निम्नवत है -

1- महापुराणकारों ने वर्णव्यवस्था विषयक मान्यताओं को निबद्ध किया है।

2- श्रौत और स्मार्त परम्परा में वर्णित वर्णव्यवस्था विषयक मान्यताओं का भी समावेश किया है।

3- महापुराणकालीन सामाजिक जीवन में वर्णव्यवस्था की क्या स्थिति थी, इसका विस्तृत वर्णन है।

4- श्रौत स्मार्त परम्परा में मान्य वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्तों का प्रभाव जैन धर्मानुयायियों पर किस प्रकार हुआ और उसके परिणामस्वरूप उन मान्यताओं का महापुराणकारों ने किस प्रकार जैनीकरण किया, इस सम्बन्ध में भी प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है।

महापुराण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आदिकाल में वर्णव्यवस्था नहीं थी। लोग इच्छानुकूल व्यवसाय करते थे। पद्मपुराण तथा हरिवंशपुराण

में वर्णित है कि ऋषभदेव ने सुख- समृद्धि के लिए समाज में सुव्यवस्था लाने की चेष्टा की थी और इस व्यवस्था के फलस्वरूप क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये तीन वर्ण उत्पन्न हुए। ऋषभदेव ने जिन पुरुषों को विपत्तिग्रस्त मनुष्यों के रक्षार्थ नियुक्त किया था, वे अपने गुणों के कारण लोक में "क्षत्रिय" नाम से प्रसिद्ध हुए, जिनको वाणिज्य, खेती एवं पशुपालन आदि के व्यवसाय में लगाया गया वे "वैश्य" कहलाये, जो निम्न कर्म करते थे तथा शास्त्र से दूर भागते थे उन्हें "शूद्र" की संज्ञा प्रदान की गयी।[17] महापुराण में भी उक्त विचार है।[18] कहीं-कहीं पर महापुराणों के वर्णन वैदिक परम्परा से प्रभावित धर्मशास्त्र एवं पुराणों के सर्वथा अनुकूल है अर्थात् ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य तथा पैर से शूद्र- इन चार वर्णों की उत्पत्ति बतायी गयी है।[19] महा-पुराण में वर्णित है कि ऋषभदेव ने अपनी दोनों भुजाओं में शस्त्र धारण कर क्षत्रियों की सृष्टि की क्योंकि हाथों के अस्त्रों से वे सबलों से कमजोर लोगों की रक्षा करते थे इसलिए वे क्षत्रिय कहलाये। अपने उरुओं से यात्रा दिखलाकर वैश्यों की सृष्टि की क्योंकि वे जल, स्थल आदि प्रदेशों में यात्रा कर व्यापार द्वारा अपना भरण- पोषण करते थे, सदैव नीच वृत्ति में लगे रहने के कारण शूद्रों की रचना पैर से किया क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की सेवा- सुश्रुषा करना शूद्रों का कर्म था। ऋषभदेव के पुत्र भरत मुख से शास्त्रों का अध्ययन कराते हुए ब्राह्मणों का सृजन किये।[20]

यहाँ उल्लेखनीय है कि वर्ण विषयक उक्त समता के होते हुए भी महा-पुराण के मत में कर्ममूलक सिद्धान्त अधिक मान्य था,[21] यही कारण है कि उत्तरा-ध्ययन सूत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के विभाजन का आधार मूलत: कर्म ही माना है। इसी निर्देश को अधिक स्पष्ट करते हुए पद्मपुराण में वर्णित है कि कोई भी जाति निन्दनीय नहीं है, गुणभद्र ने भी यही मत व्यक्त किया

है कि मनुष्यों में जातिकृत भेद नहीं होता है।[23] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि महापुराण के रचनाकाल में विशिष्ट राजनैतिक परिस्थितियों के कारण जो अव्यवस्था उत्पन्न हुई थी और जिसके फलस्वरूप सामाजिक सन्तुलन आघात- प्रतिघात का विषय बन रहा था, उनके कारण जैन आचार्यों को भी विभिन्न वर्णों के निर्धारित आजीविका में आबद्ध एवं सीमित होने के लिए विवश होना पड़ा था। महापुराण के अनुसार भिन्न- भिन्न वर्णों को अपने- अपने वर्णानुसार निर्धारित आजीविका के अतिरिक्त अन्य आजीविका को ग्रहण करने का निषेध है।[24]

महापुराण के रचनाकाल में सामान्यतः वर्ण- व्यवस्था का ह्रास हो रहा था जिसके निदर्शन साक्ष्य तत्कालीन अभिलेखों एवं ग्रन्थों में उपलब्ध है। सातवीं- आठवीं शती के वर्मन राजा वर्णाश्रम को सुधारने का प्रयास कर रहे थे।[25] नवीं शती ईस्वी के सामाजिक स्वरूप का उल्लेख करते हुए शंकराचार्य ने ऐसा अभिव्यंजित किया है कि वर्ण और आश्रम धर्मों में व्यवस्था का सर्वथा अभाव हो गया था।[26] दशकुमारचरित में दण्डी ने चातुर्वर्ण्य को कलियुग में अव्यवस्थित वर्णित किया है।[27] ये सभी साक्ष्य तत्कालीन सामाजिक विपर्यय की ओर संकेत करते हैं।

इसके साथ ही साथ यह यथार्थ है कि गुप्तकाल के बाद उत्तर भारत में विदेशी आक्रमण से राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था अस्त- व्यस्त हो गई थी।[28] सातवीं शती ईस्वी के एक ताम्रपत्र अभिलेख में वल्लभी नरेश विषयक उल्लेखानुसार वर्णाश्रम को प्रतिष्ठित कर उन्होंने मनु का समस्तरीय सम्मान प्राप्त किया था।[29] आठवीं शती ईस्वी के उड़ीसा से प्राप्त एक अभिलेख में उल्लेख है कि क्षेमंकर वर्ण और आश्रम के कर्तव्यों को व्यवस्थित करने में व्यस्त रहते थे।[30] नागपुर के पाषाण अभिलेख में मालवानरेश लक्ष्मणदेव (सन् 1030 से 1140 ईस्वी) को वैवस्वत मनु का पुत्र बताया है।[31] इसी प्रकार दशकुमारचरित

में दण्डी के कथनानुसार राजा पुण्ड्रवर्मा ने मनु की व्यवस्था के अनुकूल चारों वर्णों को सुव्यवस्थित किया था।[32]

उक्त सन्दर्भों के आलोक में अधिकांश विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि जैन महापुराण के रचनाकाल में जाति- प्रथा विषयक जैनियों के विचार पारम्परिक हिन्दू चिन्तकों के विचारों की अपेक्षा अधिक उदार थे अर्थात् उन्होंने जन्म की अपेक्षा गुण पर अधिक बल दिया था[33] और अन्य कुछ विद्वानों के मतानुसार इनमें अधिकांशत: उन्हीं विचारों की झांकी मिलती है जो पारम्परिक हिन्दू चिन्तकों के विचार है।[34] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ कहीं तत्कालीन जैन विचारकों के विधि- निषेधों में उदारता की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वहाँ वे मूलत: जैन समाज के मौलिक प्रारम्भिक विचारों की उद्भावना करते हैं और जहाँ कहीं इनके विचारों में पृथक् पक्ष का परिचय प्राप्त होता है वहाँ तत्कालीन विशिष्ट राजनीतिक परिस्थितियों का परिणाम माना जा सकता है।

विभिन्न वर्णों की सामाजिक स्थिति एवं कर्तव्य :-

जैन महापुराण के अध्ययन से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों की सामाजिक स्थिति एवं उनके कर्त्तव्यों पर प्रकाश पड़ता है। उक्त वर्णों के विषय में विस्तृत विवरण निम्नवत् है -

ब्राह्मण - जैन महापुराण में सामान्यतया ब्राह्मण के लिए द्विज और ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु प्रसंगत: इनमें विप्र, भूदेव, श्रोतिय, पुरोहित, देवभोगी, मौहूर्तिक, वाडव, उपाध्याय तथा त्रिवेदी जैसे शब्द भी प्राप्त होते हैं।[35]

ब्राह्मण के लिए संस्कार तपश्चरण तथा शास्त्राभ्यास को अनिवार्य माना गया है और यह कथित है कि तपश्चरण और शास्त्राभ्यास से जिसका संस्कार नहीं हुआ है, वे जातिमात्र से भले द्विज हों, वस्तुतः द्विज कहलाने के अधिकारी नहीं हैं।[35] महापुराण में ब्राह्मणों को वर्णोत्तम माना गया है। इसी ग्रंथ में वर्णित है कि श्रुति, स्मृति, पुराण, सदाचार, मंत्र क्रियाओं के आश्रित और देवताओं के चिह्न यज्ञोपवीत के धारण करने तथा काम का विनाश करने से द्विजों को शुद्धि होती थी। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण सभी वर्णों में श्रेष्ठ होने के कारण वह स्वतः दूसरों को शुद्ध करता था।[37] आदिपुराण में भी उक्त मत को स्वीकार किया गया है।[38] महापुराण में ब्राह्मणों के दस अधिकारों का उल्लेख भी उपलब्ध है - अतिबाल विद्या, कुलावधि, वर्णोत्तमत्व, पात्रत्व, सृष्ट्यधिकारिता, व्यवहारेशिता, अवध्यत्व, अदण्ड्यता, मानार्हता तथा प्रजा सम्बन्धान्तर।[39] इसके अतिरिक्त महापुराण ने उन ब्राह्मणों की निन्दा की है जो इस ग्रंथ के अनुसार कलियुग में उत्पन्न होकर जाति- विषयक अभिमान के कारण सदाचार से भ्रष्ट होकर मोक्ष-मार्ग में बाधक एवं विरोधी बनेंगे तथा धन की आशा से निम्न कोटि के शास्त्रों के द्वारा लोगों को मोहित करते रहेंगे। पद्मपुराण ने भी महापुराण द्वारा विहित आरम्भ में विरत रहना, शील एवं क्रियायुक्त होना, आचरणों को न करने वाले ब्राह्मणों को केवल नाममात्र का ब्राह्मण घोषित किया है।[40] इसीलिए महापुराण ने ऐसे दुराचारी, पापी तथा पशुवध करने वाले द्विजों को ब्राह्मण कहलाने के अधिकार से वंचित किया है।[41] आदिपुराण में भी इसी तथ्य को माना गया है।[42] महापुराण में ब्राह्मणों के अध्ययन- अध्यापन, दान तथा याज्ञिक क्रियाओं का भी वर्णन उपलब्ध है।[43] इसके अतिरिक्त अन्य जैन ग्रंथों में भी ब्राह्मणार्थ निर्धारित उन चौदह विद्याओं का उल्लेख है जिनका वर्णन पारंपरिक धर्मशास्त्र तथा पुराण में उपलब्ध है। ये चौदह विद्याएँ इस

प्रकार हैं - षष्टांग {शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष एवं कल्प}, चार वेद {ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद}, मीमांसा, न्याय, पुराण तथा धर्मशास्त्र।[44]

उपरोक्त सन्दर्भों में ब्राह्मण की स्थिति तथा कर्त्तव्यों के प्रसंग में जिन तत्वों का उल्लेख किया गया है, वे तत्कालीन वस्तुस्थिति के परिचायक अवश्य है किन्तु हरिवंशपुराण का एक स्थल पुनर्विचार का विषय अवश्य बन जाता है, जहाँ यह वर्णित है कि प्रवरक नामक ब्राह्मण कृषक था तथा स्वतः हल चलाकर अपना भरणपोषण करता था।[45] मनुस्मृति के अनुसार कृषि- वृत्ति ब्राह्मण के लिए अपेक्षित नहीं है क्योंकि कर्षण- कार्य से भूमिगत कीटाणुओं की हत्या होती है किन्तु मनुस्मृतिकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि आपातकाल में ब्राह्मण कृषि कार्य सम्पन्न कर सकता था।[46] पाराशरस्मृति {600 से 900 ई० के मध्य} ने कलियुग का वृतान्त देते हुए कृषि को ब्राह्मणों की आजीविका के अन्तर्गत् सम्मिलित किया है।[47] पराशरस्मृति के टीकाकार माधवाचार्य ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए वर्णन किया है कि कृषि- वृत्ति जो कि प्रारम्भ में ब्राह्मणों के लिए आपातकालीन वृत्ति थी, कलियुग में सामान्य- वृत्ति बन चुकी थी।[48] अतः स्पष्ट है कि उक्त टीकाकार माधवाचार्य ने अपनी टीका में "कारयेत" शब्द का प्रयोग किया है न कि "कुर्यात"।[49] कारयेत शब्द पर बल देते हुए ब्रजनाथ सिंह यादव का कथन है कि ब्राह्मण स्वयं कृषि - कार्य नहीं करता था अपितु कृषि - कार्य शूद्रों के माध्यम से करवाता था।

क्षत्रिय :-

जैन महापुराण क्षत्रिय वर्ण के लिए प्रायः "क्षत्र" और "क्षत्रिय" शब्द का प्रयोग करते हैं।[50] किन्तु इनमें कहीं- कहीं "आयोनिज" शब्द का भी उल्लेख "क्षत्रिय" शब्द के द्योतनार्थ हुआ है। "आयोनिज" का अर्थ होता है,

ऐसी जाति जिसकी उत्पत्ति मानवीय योनि से नहीं हुई है। सम्भवत: यह शब्द उस अग्निकुल के आख्यान को द्योतित करता है, जिसे राजपूतों की उन्नति का कारण माना गया है। महापुराण में वर्णित है कि क्षत्रियों की उत्पत्ति जिनेन्द्रदेव से हुई है और इसी से वे "आयोनिज" कहलाते हैं।[51] यही विचार आदिपुराण में भी वर्णित है।[52]

प्राचीन क्षत्रिय जाति से पूर्व मध्यकालीन राजपूत जाति का रक्त सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है अथवा नहीं? इस सम्बन्ध में जे० जी० एम० डैरेट्[53] ने राजपूतों को प्राचीन क्षत्रिय जाति से पृथक् करने का प्रयत्न किया है। किन्तु ब्रजनाथ सिंह यादव इस मत को पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं करते।[54] पुष्पदन्त महापुराण में क्षत्रिय जाति के लिए जो कर्त्तव्य विहित है, उनमें दो तत्वों का समन्वय दृष्टिगत होता है। प्रथमत: उनमें वही क्षत्रियोचित कर्त्तव्य वर्णित है जिनका उल्लेख प्राचीन क्षत्रियों के संदर्भ में अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध है। द्वितीय इन क्षत्रियों के कर्त्तव्य गौरव में शौर्य एवं पराक्रम का बार-बार उल्लेख प्राप्त होता है, जिसे राजपूतों को "सिवैल्री" कहते हैं। अतएव ऐसी स्थिति में सामान्य निष्कर्ष यही निकलता है कि राजपूत जाति में पुराने क्षत्रिय भी सम्मिलित थे महापुराण के अनुसार विनाश (क्षत) से रक्षा (त्राण) करने से क्षत्रिय संज्ञा प्राप्त होती है।[55] यही मत आदिपुराण का भी है।[56]

महापुराण ने क्षत्रियों के पाँच - कुल-पालन, बुद्धि-पालन, आत्मरक्षा, प्रजा-रक्षा तथा समञ्जसत्व धर्म (कर्त्तव्य) वर्णित किये हैं।[57] उक्त पुराण में ही क्षत्रियों के अन्य कर्त्तव्यों में न्यायोचित वृत्ति, धर्मानुसार धनोपार्जन करना, रक्षा करना, वृद्धि को प्राप्त करना तथा योग्य पात्र को दान देने का विधान वर्णित है।[58]

वैश्य :-

पुष्पदन्त- महापुराण में वैश्य के लिए सेठ, वणिक, श्रेष्ठी एवं सार्थवाह शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[59] श्रेष्ठि पद परिवार के सबसे वरिष्ठ व्यक्ति को दिया जाता था। आदिपुराण में भी उक्त तथ्यों को स्वीकार किया गया है।[60] सार्थवाह का अर्थ है उस टोली का नेता जो वाणिज्य और व्यापार के संदर्भ में देश- विदेश में भ्रमण करता था। महापुराण में उद्धृत है कि वैश्य धनोपार्जन हेतु देश- विदेश में भ्रमण करता था।[61] दूसरे साक्ष्यों से भी प्रकट होता है कि तत्कालीन भारत [विशेष रूप से गुजरात] के बनियों ने वाणिज्य और व्यापार के विकास में विशेष योगदान दिया था और वे इतने समृद्धवान थे कि कुछ तो सामन्त व्यवस्था में सम्मिलित हो गये थे।[62] उपरोक्त पौराणिक संदर्भ वैश्यों की उत्थानपरक स्थिति की सूचना प्रदान करते हैं। महापुराण में स्पष्ट रूप से वर्णित है कि वैश्यों की आजीविका व्यापार के अतिरिक्त कृषि और पशुपालन भी था।[63] पद्मपुराण में उद्धृत है कि वाणिज्य, खेती, गोरक्षा आदि के व्यापार में रत लोग वैश्य होते थे।[64] ऐसा प्रतीत होता है कि इन पुराणों के वर्णन वैश्यों के अतीतकालीन कर्त्तव्यों की ओर संकेत करते हैं और इन वर्णनों को मात्र मौलिक आदर्शों का अवशेष माना जा सकता है। यादव का विचार है कि पूर्व मध्यकाल में वाणिज्य और व्यापार की उन्नति के कारण वैश्यों की पूर्वनिर्धारित आजीविका में परिवर्तन आ गया था।[65] किन्तु तत्कालीन वैश्यों की स्थिति का मूल्यांकन करने वाले आधुनिक जैन विद्वानों ने एक दूसरा ही तर्क प्रस्तुत किया है। इनकी धारणा के अनुसार वैश्यों ने कृषि और पशुपालन के कार्य को इसलिए छोड़ा था क्योंकि इसमें हिंसा की सम्भावना रहती थी।[66]

शूद्र :-

महापुराण में वर्णित है कि जो ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की सेवा करते थे वे शूद्र कहलाते थे।[67] जैन पुराणों में शूद्रार्थ कारु, अकारु, प्रेष्य

दास, अन्त्यज तथा शूद्र शब्द व्यवहृत हुए हैं।[68] आदिपुराण में शूद्रों को तीनों वर्णों का सेवक कहा गया है।[69] पद्मपुराण में शूद्रों के प्रेष्य, दास आदि भेद उपलब्ध हैं।[70] महापुराण में शूद्रों के मुख्यतः दो भेद वर्णित हैं।[71]

1 - कारु शूद्र :- धोबी, नाई आदि कारु शूद्र थे।

2 - अकारु शूद्र :- कारु से भिन्न आचरण करने वाले अकारु होते थे। कारु शूद्र के भी स्पृश्य और अस्पृश्य दो उपभेद होते थे।

(1) स्पृश्य कारु शूद्र :- जो छूने योग्य थे, उन्हें स्पृश्य कारु शूद्र कहा गया है। जैसे - नाई, कुम्हार आदि।[72]

(2) अस्पृश्य कारु शूद्र :- जो छूने योग्य नहीं होते थे उन्हें अस्पृश्य कारु शूद्र कहा गया है। यथा- चाण्डाल आदि।[73]

जैनेतर ग्रन्थों में तक्षकार तन्त्रवाय (जुलाहा), नापित, रजक एवं चर्मकार, इन पाँच प्रकार के कारु शिल्पियों का उल्लेख मिलता है।[74]

आर० एस० शर्मा के अनुसार कालान्तर में शूद्र कृषि, पशुपालन, शिल्प एवं व्यापार द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ़ कर वैश्यों के समीप आने लगे थे। जो क्षेत्र ब्राह्मणों को उपलब्ध थे, उन पर वे शूद्रों द्वारा खेती करवाते थे।[75] जैन पुराणों के समय में शूद्रों की स्थिति सुधारने की चेष्टा की गई थी।[76] कुछ तान्त्रिक आचार्य स्वयं शूद्र थे।[77]

जातियाँ एवं उप जातियाँ -

महाकवि पुष्पदन्त ने परम्परागत चारों वर्णों का स्पष्ट उल्लेख करने के साथ- साथ उनके कर्त्तव्य तथा स्वभावादि पर भी प्रकाश डाला है। इसके

अतिरिक्त अनेक जातियों तथा उपजातियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। जिसके आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि दसवीं शताब्दी में जातियों के उपविभागों में पर्याप्त वृद्धि हुई। जातियों का सर्वाधिक विस्तार ब्राह्मण वर्ग में हुआ। कार्यों के आधार पर इनके लिए श्रोत्रिय, वाडव, उपाध्याय, नौहूर्तिक, देवभोगी तथा पुरोहित शब्द प्रयुक्त हुए। अभिलेखिक साक्ष्यों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि दशवीं शताब्दी में कार्यों के आधार पर ब्राह्मणों में अनेक उपजातियों का आविर्भाव हुआ। ब्राह्मणों के अतिरिक्त शूद्रों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। इस काल में अनेक पेशेवर जातियाँ शूद्र वर्ग से सम्बन्धित हैं। उपजातियों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे उपजातियाँ आती हैं जिनका प्रादुर्भाव सामाजिक संश्लेषण के परिणामस्वरूप हुआ था, आवर्त[73] ﴾म्लेच्छों की उपजाति﴿, दिव्या[79] ﴾धार्मिक उत्सवों में सम्मिलित होने वाली जाति﴿ म्लेच्छ,[80] शबर[81]।

द्वितीय वर्ग में वे उपजातियाँ आती हैं जो तत्कालीन विशिष्ट आर्थिक परिस्थितियों के फलस्वरूप आविर्भूत हुई थी- कुलाल[82] ﴾कुम्भकार﴿, कुबिन्द[83] ﴾जुलाहा﴿, गोपाल[84] ﴾अहीर या आभीर﴿, चाण्डाल,[85] माली[86] ﴾मालाकार﴿, रजक[87] ﴾धोबी﴿। अस्पृश्यता एवं छुआछूत की भावना भी इस काल में प्रमुखता प्राप्त कर लेती है।

आश्रम - व्यवस्था -

जीवन के मर्म को अवगत करने के लिए आश्रम- व्यवस्था की नियोजना की गयी है। "आश्रम" शब्द संस्कृत की "श्रम" धातु से बना है। "आश्राम्यन्ति अस्मिन इति आश्रमः" अर्थात् ऐसी जीवन- पद्धति जिसमें मनुष्य श्रम करता

हुआ अपने आपको समाज के लिए निर्धारित कर्त्तव्यों के अनुकूल सक्षम बनाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनियों ने आश्रम- व्यवस्था को ब्राह्मण धर्म से उद्धृत किया है, तथापि इसमें सन्देह नहीं है कि जैनोचित अनुशासन के अनुकूल उन्होंने इसमें संशोधन का भी प्रयास किया है। महापुराण में चार आश्रम [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास] वर्णित है। इसके साथ - साथ महापुराण का यह भी कथन है कि उन आश्रमों में शुचिता परमावश्यक है।[88] आदिपुराण में भी उक्त मत को मान्यता दी गयी है।[89] पद्मपुराण में सागर और अनगर आश्रम का उल्लेख मिलता है।[90]

भारतीय आश्रम-व्यवस्था के अनुशीलन करने वाले विद्वानों ने आपस्तम्बधर्मसूत्र, गौतमधर्मसूत्र, वशिष्ठधर्मसूत्र, और मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के आधार पर यह स्वीकार किया है कि आश्रम-व्यवस्था व्यक्ति के जीवन के विभिन्न स्तरों का प्रशिक्षण स्थल है तथा इसके अनुशासन की आधारशिला है।[91] पन्धारीनाथ प्रभु के मतानुसार वस्तुत: इन चारों अवस्थाओं के माध्यम से मनुष्य अपना गन्तव्य निश्चित करता है और ये चारों अवस्थाएँ प्रशिक्षण की चार श्रेणियों के रूप में स्वीकार की जा सकती है।[92]

उक्त वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि जो कर्म स्मार्त एवं पारम्परिक पुराणों में उपलब्ध है, वही महापुराण को भी मान्य है। इसमें सन्देह नहीं है कि भारतीय परम्परा में आश्रम-व्यवस्था बहुत प्राचीन है। यद्यपि वैदिक ग्रन्थों में आश्रम शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है फिर भी जैसा कि काणे की मान्यता है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास अथवा इसके समानार्थक शब्दों का प्रसंग वैदिक ग्रन्थों ने अनेक स्तरों पर किया है।[93] ऐसी भी मान्यता है कि उपनिषदों के काल तक आश्रमबोधक भावना को आधारशिला

94
प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उत्तरवर्ती स्तरों पर विकसित आश्रम-व्यवस्था का मूल इन्हीं ग्रन्थों में ढूँढ़ा जा सकता है। महापुराण में आश्रम-व्यवस्था विषयक जो जानकारी मिलती है, उसका वर्णन निम्नांकित है -

ब्रह्मचर्याश्रम :- मनुष्य के बौद्धिक और शिक्षित जीवन के निमित्त ब्रह्मचर्य-आश्रम की व्यवस्था की गयी है। विद्या और शिक्षा की प्राप्ति इसी के पालन से होती थी, जिससे मनुष्य की ज्ञान गरिमा बढ़ती थी। "ब्रह्मचर्य" दो शब्दों "ब्रह्म" और "चर्य" से बना है। ब्रह्म का अर्थ है "वेद" अथवा महान और "चर्य" का विचरण करना अथवा अनुसरण करना। इन दोनों का सम्मिलित अर्थ है - "ब्रह्म के मार्ग पर चलना"। महापुराण में ब्रह्मचर्याश्रम के विषय में विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। आठ वर्ष की अवस्था होने पर बालक को जिनालय में ले जाकर अर्हन्तदेव की पूजा भक्ति सम्पन्न करके व्रत देना चाहिए। अनन्तर मौंजी-बन्धन के पश्चात् श्वेत धोती और दुपट्टाधारी अविकारी वेश वाला वह बालक व्रतचिह्न से विभूषित होकर ब्रह्मचारी कहलाता है। इस अवस्था में उसकी चोटी भी रहती है। व्रतचिह्नों में सात लर का यज्ञोपवीत प्रधान रूप से रहता है। इस समय इस ब्रह्मचारी का चरित्रोचित अन्य नाम भी रखा जा सकता है। ब्रह्मचारी भिक्षावृत्ति से निर्वाह करता है। भिक्षा में जो कुछ प्राप्त हो, उसका कुछ हिस्सा देव को अर्पण कर शेष बचे हुए योग्य अन्न का स्वयं भोजन करता है। सिरों के बालों का मुण्डन कराना भी आवश्यक है इससे मन, वचन और काय पवित्र रहते हैं।[95] यज्ञोपवीत को ब्रह्मसूत्र और "रत्नत्रयसूत्र" भी कहा गया है। जिनसेन ने तीन लर के यज्ञोपवीत का विधान गृहस्थ के लिए किया है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चरित्र का प्रतीक है। यज्ञोपवीत को श्रावक सूत्र भी कहा जाता है, जो यज्ञोपवीत सात लरों का बनता था, वह सप्तभंगीय का प्रतीक था।[96] ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत द्वारा अपने व्रतों का सदैव स्मरण रखता था।

विद्याध्ययन करते समय ब्रह्मचारी को वृक्ष की दातौन करना, ताम्बूल सेवन करना, अन्जन लगाना, हल्दी या उबटन लगाकर स्नान करना, पलंग पर शयन करना, दूसरे के शरीर से अपने शरीर को रगड़ना आदि कार्यों का त्याग करना चाहिए। प्रतिदिन स्नान करना, शरीर शुद्ध रखना एवं पृथ्वी पर शयन करना आवश्यक है। जब तक विद्या समाप्त न हो जाय तब तक व्रत धारण करना और उत्तम संस्कारों से युक्त अपने को बनाना आवश्यक कर्तव्य है। ब्रह्मचर्य संयम एवं व्रताचरण भी विधेय कर्तव्यों में परिगणित है।[97] विद्यारम्भ करते समय ब्रह्मचारी को गुरुमुख से श्रावकाचार का अध्ययन करना और तदनन्तर विनयपूर्वक अध्यात्मशास्त्र पढ़ना आवश्यक है। आचार और अध्यात्म शास्त्र का ज्ञान प्राप्त होने पर विद्वता और पाण्डित्य की प्राप्ति के लिए व्याकरणशास्त्र, अर्थशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, छन्दशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणित शास्त्र आदि विषय और शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए।[98] ब्रह्मचर्य आश्रम विद्यार्जन के लिए नियत है। ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के अनन्तर अध्ययन के समय ग्रहण किये गये व्रतों का त्याग हो जाता है पर जीवन के लिए उपादेय व्रत बने रहते हैं। मधुत्याग, मांसत्याग, पन्चउदुम्बर फलों का त्याग और हिंसादि पाँच स्थूल पापों का त्याग जीवनपर्यन्त के लिए कर देना चाहिए।[99] ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति एवं गृहस्थाश्रम में प्रवेश के पूर्व व्यक्ति की व्रतावतरण क्रिया सम्पन्न होती थी। ऐसा प्रतीत होता है ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि बारह अथवा सोलह वर्ष की होती थी।[100] महापुराण के अतिरिक्त ब्रह्मचर्याश्रम का प्रसंग अन्य जैनपुराण भी देते हैं, उदाहरणार्थ पद्मपुराण में उन ब्रह्मचारियों को उत्कृष्ट एव धर्म प्राप्ति का अधिकारी माना गया है जो दिगम्बर मुनियों की भावपूर्वक स्तुति करते हैं।[101] हरिवंशपुराण ने यज्ञोपवीत के केवल तीन लरों का उल्लेख करते हुए उन्हें सम्यक् दर्शन, सम्यकज्ञान तथा सम्यक्चरित्र का प्रतीक माना है। इसे धारण करने वाले नारद मुनि को असाधारण पाण्डित्य की शोभा माना है तथा उनके नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[102]

गृहस्थाश्रम :-
---------- ब्रह्मचर्य आश्रम के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता है। जिन माल्याम्बर, आभूषण, पुष्प, ताम्बूल आदि पदार्थों के सेवन का परित्याग किया गया था, उन पदार्थों को अब गुरु की आज्ञापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है।[103] विवाह हो जाने पर गृहस्थ अतिथि-सत्कार, दान, पूजा, परोपकार आदि कार्यों को उत्साहपूर्वक सम्पन्न करता है। गृहस्था-श्रम को समाज-सेवा का साधन माना गया है। महापुराण में वर्णित है कि गृहस्थों के लिए विवाह एक धर्म है क्योंकि गृहस्थों को सन्तान की रक्षा में अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।[104] जैनेतर प्राचीन ग्रन्थों में भी गृहस्थाश्रम के महत्व का उल्लेख मिलता है।[105] हरिवंशपुराण में उल्लिखित है कि गृहस्थ-धर्म साक्षात् स्वर्गादि के अभ्युदय एवं परम्परा से मोक्ष का कारण है।[106] महापुराण में गृहस्थ के विषय में वर्णित है- पूजा करने वाले यजमान जिसकी पूजा करते हैं और दूसरों से भी कराता है, जो वेद एवं वेदांग के विस्तार को स्वयं पढ़ता है तथा दूसरों को पढ़ाता है, जो यद्यपि पृथ्वी का स्पर्श करता है तथापि पृथ्वी सम्बन्धी दोष जिसका स्पर्श नहीं कर सकते है, जो अपने प्रशंस-नीय गुणों से इसी पर्याय में देव पर्याय को प्राप्त होता है, जिसके अणिमा अर्थात् छोटापन नहीं है, किन्तु महिमा है, जिसके गरिमा है परन्तु लघिमा नहीं है, जिसमें प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व आदि देवताओं के गुण विद्यमान है। उपर्युक्त गुणों से जिसकी महिमा बढ़ रही है, जो देव-रूप हो रहा है और लोक को उल्लंघन करने वाला उत्कृष्ट तेज धारण करता है। ऐसा भव्य गृहस्थ पृथ्वी पर पूजित होता है। सत्य, शौच, क्षमा और दम्भ आदि धर्म सम्बन्धी आचरणों से वह अपने में प्रशंसनीय देवत्व की सम्भावना करता है।[107] आदिपुराण में गृहस्थों को वर्णोत्तम, महीदेव, सुश्रुत, द्विजसत्तम, निस्तारक, ग्रामपति और मानार्ह आदि शब्दों से सम्बोधित कर उसका सत्कार करते है।[108] जैन पुराणों में गृहस्थ धर्म के दान, शील, पूजा एवं पर्व के

दिन उपवास कृत्यों का वर्णन है।[109] पद्मपुराण और महापुराण में दिग्विरति, देशविरति एवं अनर्थदण्डविरति - ये तीन गुणव्रत है। कुछ विद्वान् भोगोपभोग परिणामव्रत को भी गुणव्रत कहते हैं और देशव्रत को शिक्षाव्रत में सम्मिलित करते हैं।[110]

आदिपुराण में वर्णित है कि जिनेन्द्रदेव ने गृहस्थों के लिए ग्यारह स्थान (प्रतिमाएँ) बतलाये हैं - दर्शन, व्रत, सामयिक, प्रोषध, सचित्त-त्याग, दिवामैथुनत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमति-त्याग और उद्दिष्टत्याग।[111] महापुराण में अहिंसा पर बल दिया गया है, इसीलिए व्रती लोग हरे अंकुरों में जीव होने के कारण उनके वध की आशंका से हरे अंकुरों पर नहीं चलते है।[112]

महापुराण में सद्गृहस्थ को विशुद्ध आचरण के साथ षट्कर्म करने का विधान है।[113] महापुराण में गृहस्थों के बारह व्रतों का वर्णन प्राप्य है- पाँच अणुव्रत, चार शिक्षाव्रत, तीन अणुव्रत, इसके अतिरिक्त यथाशक्ति हजारों नियम धारण करने पड़ते हैं।[114] पद्म एवं हरिवंशपुराण भी इसी का समर्थन करते हैं।[115] महापुराण के अनुसार पाँच अणुव्रत- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह हैं। जिसे सूक्ष्मरीति से अर्थात् पूर्णरूप में (महाव्रत) धारण किये जावें तो मुनि का धर्म और यदि स्थूल रीति से धारण किये जावे तो गृहस्थ का धर्म है।[116] जैन महापुराण आतिथ्य सत्कार पर भी बल देता है। हरिवंशपुराण भी उक्त मान्यता को स्वीकार करता है।[117]

वानप्रस्थाश्रम :-
------------ प्राचीन जैनेतर ग्रन्थों में वानप्रस्थ के अर्थ में "वैखानस" शब्द प्रयुक्त होता था।[118] जैन महापुराण में वानप्रस्थ के लिए नैष्ठिक, श्रावक, परिव्राट शब्दों का प्रयोग हुआ है। महापुराण में वर्णित है कि गृहस्थ धर्म का पालन

कर घर के निवास से विरक्त होते हुए पुरुष का जो दीक्षा ग्रहण करना है, उसे पारिव्राज्य कहते हैं।[119] इसी पुराण में वर्णित है कि परिव्राट का जो निर्वाण दीक्षा रूप भाव है, उसे पारिव्राज्य कहते हैं। इस पारिव्राज्य- क्रिया में ममत्व-भाव छोड़कर दिगम्बर रूप धारण करना पड़ता है।[120] पद्मपुराण में भी उक्त मत को स्वीकार किया गया है।[121] परिव्राजक की परिभाषा को निरूपित करते हुए महापुराण में वर्णित है कि जो आगम में कही हुई जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को प्रमाण मानता हुआ तपस्या धारण करता है, उसी के यथार्थ में पारिव्राजक कहते हैं।[122] इसी पुराण के अनुसार मोक्ष के अभिलाषी पुरुष को शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग, शुभ लग्न और शुभ ग्रहों के अंश में निर्ग्रन्थ आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए।[123]

महापुराण में पारिव्राजक की योग्यता के विषय में वर्णित है कि जिसका कुल एवं गोत्र विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और प्रतिभाशाली है, ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करने के योग्य माना गया है।[124] उक्त पुराण में पारिव्राजक के लक्षण का उल्लेख है कि जाति, मूर्ति, लक्षण, प्रभा, मण्डल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, - निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वन्दनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख शरीर की सुन्दरता- ये जाति आदि 27 सूत्रपद कहलाते हैं, जिनके निर्माण होने से पारिव्राज्य का साक्षात् लक्षण प्रकट होता है।[125] ये लक्षण सामान्य पारिव्राजक में नहीं अपितु तीर्थंकरों में प्राप्य है। इन लक्षणों का कुछ अंश सामान्य पारिव्राजक में उपलब्ध होता था।

सन्यासाश्रम :-
---------- महापुराण में सन्यासी के लिए प्रायोपगमन, भिक्षुक संज्ञक, मुनिदीक्षा नामों का उल्लेख मिलता है। मुनियों ने सन्यास का नाम प्रायोपगमन बतलाया है, जिसमें संसारी जीवों के रहने योग्य ग्राम- नगर आदि से

हटकर किसी वन में जाना पड़े, उसे प्रायोपगमन कहते हैं।[126] प्रायोपगमन सन्यास में शरीर का न उपचार करते हैं और न दूसरे से उपचार कराते हैं। शरीर से ममत्व नहीं रखते हैं।[127]

मुनिमार्ग से च्युत होने तथा कर्मों को विशाल निर्जरा होने की इच्छा से सन्यासी को क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य,अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, निषधा, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, अदर्शन,रोग, तृणस्पर्श, प्रज्ञा, अज्ञान, मल और सत्कार- पुरस्कार ये बाइस परिषह को सहन करना चाहिए।[128] सज्जन लोग तपस्या हेतु जंगल में जाया करते थे।[129] अन्तिम अवस्था में राजा मुनि के पास सन्यास धारण करते थे। प्रायोपगमन सन्यास के द्वारा धनपति नामक राजा ने जयन्त विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।[130] किसी पर्वत पर संयम धारण कर एक महीने तक प्रायोपगमन एवं संन्यास धारण करने के बाद अन्त में शान्त परिणामों से शरीर छोड़कर अहमिन्द्र पद प्राप्त करते हैं।[131] महापुराण के अनुसार इसमें मुनिदीक्षा सम्पन्न होती है और सांसारिक एवं कर्मबन्धन को तोड़ने का प्रयास किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महापुराण में यद्यपि पारम्परिक पुराणों एवं धर्मों की तरह आश्रम- व्यवस्था का श्रौत-स्मार्त परम्परा सम्मत विवेचन नहीं किया गया है तथापि प्रकारान्तर से चारों आश्रम का वर्णन किया गया है। एक और विशेष तथ्य है कि गृहस्थाश्रम का वर्णन करते हुए महापुराण ने विवाह और सन्तानोत्पत्ति का स्पष्टतः उल्लेख किया है।

विवाह -

धर्म के पालन के बिना मनुष्य अधूरा है। विवाह करना भी धर्म है क्योंकि बिना विवाह किये धार्मिक कार्य सम्पादित नहीं किये जा सकते हैं। मनुष्य पूर्ण तभी माना जाता है जब उसे पत्नी और सन्तान की प्राप्ति है। अतः महापुराण ने भी विवाह को एक महत्वपूर्ण कृत्य के रूप में स्वीकार किया है। वास्तव में परिवार का संचालन विवाह- संस्था के बिना सम्भव नहीं है।[132] महापुराण के अनुसार गार्हस्थ्य- जीवन में प्रवेशार्थ वर - वधू सम्यक जीवन व्यतीत करने, सन्तानों की रक्षा एवं सामाजिक व्यवस्था के लिए विवाह- सूत्र में बँधते थे। भोगभूमि काल में स्त्री - पुरुषों का युगल साथ- साथ उत्पन्न होता था, साथ ही साथ भोग भोगने के उपरान्त केवल एक युगल को जन्म देकर साथ ही साथ मृत्यु को प्राप्त करते थे।[133] जीवन में धर्म, अर्थ, कामादि पुरुषार्थों का सेवन विवाह- संस्था के बिना असम्भव है। गृहस्थ जीवन का वास्तविक उद्देश्य दान देना, देवपूजा करना एवं मुनिधर्म के संचालन में सहयोग देना है। साधु- मुनियों को दान देने की क्रिया गृहस्थ जीवन के बिना सम्पन्न नहीं हो सकती है। स्त्री के बिना पुरुष और पुरुष के बिना अकेली स्त्री दानादि क्रिया सम्पादित करने में असमर्थ है। अतः चतुर्विध संघ के संरक्षण की दृष्टि से और कुल परम्परा का निर्वाह करने की दृष्टि से विवाह - संस्था की परम आवश्यकता है। अग्निदेव और द्विज की साक्षीपूर्वक पाणिग्रहण क्रिया का सम्पन्न होना विवाह है।[134] सामाजिक व्यवस्था को संतुलित बनाने के लिए तथा वंश- विस्तारार्थ सन्तानोत्पत्ति को आवश्यक माना गया है। इसीलिए महापुराण में इस बात पर बल दिया गया है कि पुत्रहीन मनुष्य की गति नहीं होती अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। यह कथन वेदविहित है।[135] महापुराण में वर्णित है कि विवाह क्रिया

गृहस्थों का धर्म है और सन्तान- रक्षा गृहस्थों का प्रधान कार्य है क्योंकि विवाह न करने से सन्तति का उच्छेद हो जाता है और सन्तति के उच्छेद होने से धर्म का उच्छेद होता है।[136] विवाह के प्रचलन एवं महत्व की सूचना जैनेतर साक्ष्यों से भी प्राप्य होती है, उदाहरणार्थ कालिदास ने धर्म, अर्थ, एवं काम को विवाह का मुख्य उद्देश्य माना है।[137] पारम्परिक विष्णु, ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य पुराणों में सपत्नीक गृहस्थ को ही महान फल, दान तथा अभिषेक का अधिकारी वर्णित किया है।[138]

विवाह के प्रकार एवं भेद - प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रीय परम्परा में विवाह के निर्धारित आठ प्रकार ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापात्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच सुविदित है।[139] इन आठ प्रकारों के क्रमबद्ध उल्लेख महापुराण में प्राप्त नहीं होते है। जैन आगमों के सम्बन्ध में जगदीशचन्द्र जैन का मत है कि जैन आगमों में विवाह के तीन प्रकार - माता-पिता द्वारा आयोजित, स्वयंवर तथा गान्धर्व है।[140] पी० थामस के मतानुसार जैन धर्म में चार प्रकार के विवाह प्रचलित थे- माता- पिता द्वारा नियोजित, स्वयंवर, गान्धर्व तथा असुर।[141] महापुराण में प्रसंगतः जिन विवाहों के विवरण प्राप्त होते है, वे निम्नवत है -

(1) परिवार द्वारा नियोजित,

(2) स्वयंवर

(3) राक्षस ।

1- परिवार द्वारा नियोजित विवाह :- इस रीति के अन्तर्गत प्रायः दो-तीन प्रणालियों के निदर्शन हमें उपलब्ध होते हैं। इसकी प्रथम प्रणाली के अन्तर्गत पिता द्वारा विवाह योग्य पुत्र या कन्या को तदनुरूप वधू या वर

के हाथों में समर्पित करने की रीति को रखा जा सकता है, जिसके अनुसार ऋषभ- यशावती और सुनन्दा,[142] वज्रजंघ- श्रीमती,[143] अमिततेज- अनुन्धरी,[144] त्रिपृष्ठ- स्वयंप्रभा[145] आदि के विवाह- सम्बन्ध सम्पन्न हुए हैं। इसकी मान्यता पद्म- पुराण भी स्वीकार करता है।[146] वधू के पिता द्वारा अपनी शर्त- पूर्ति के उपलक्ष्य में वर को अपनी कन्या समर्पित करने की रीति को हम दूसरी प्रणाली के अन्तर्गत् रख सकते हैं। इसी प्रणाली के द्वारा कंस और जीवंजशा[147] तथा नंदाढय और मंदावती[148] के बीच प्रणय- सूत्र ग्रंथित हुए हैं। आदिपुराण में भी उक्त को मान्यता प्रदान की गयी है।[149] तीसरी प्रणाली के अन्तर्गत् हम उस रीति को ले सकते हैं जिसके अनुसार कन्या का पिता वर से अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उसे अपनी कन्या सौंप देता है। जीवन्धर को पद्मावती[150] तथा प्रीतिंकर को पृथ्वी सुन्दरी[151] इसी रीति से प्राप्त हुई थी। पद्मपुराण भी उक्त मान्यता को स्वीकार करता है।[152] इसी पुराण में अन्यत्र वर्णित है कि कभी- कभी कन्या के रूप पर आसक्त हो जाने पर वर स्वयं या उसका पिता कन्या के यहाँ जाकर कन्या की याचना करते हैं।[153]

स्वयंवर :-
--------- महापुराण के अनुसार स्वयंवर प्रथा के उद्भावक अकम्पन महाराज थे।[154] महापुराण में स्वसम्प्रदाय विशिष्ट श्रुतियों एवं स्मृतियों की प्रामाणिकता पर बल देते हुए विवाह की सनातन विधि एवं परम्परा का उल्लेख उपलब्ध है।[155] महापुराण का कथन है कि प्राचीन पुराणों में विवाह की सर्वोत्तम विधि स्वयंवर है।[156]

विद्वान क्लरिसे बदेर के कथनानुसार स्वयंवर या पति चुनने का विशेषाधिकार क्षत्रिय कन्याओं को ही था।[157] इस मत में थोड़ा सा संशोधन किया जा सकता है। स्वयंवर प्रथा राजकन्या के लिए अपेक्षित मानी जाती

थी और प्राचीन भारत में राजपद क्षत्रियों के अतिरिक्त ब्राह्मण भी अलंकृत करते थे। महापुराण में उल्लिखित है कि स्वयंवर का प्रचलन शासक वर्ग में विशेषतः राजघरानों में था।[158] इस मत की पुष्टि पद्मपुराण से भी होती है।[157] स्वयंवर विधि विषयक वर्णन महापुराण के अनुसार कन्या के विवाह योग्य हो जाने पर पिता उसके विवाह के लिए देश- विदेश में सूचना भेजता था। कन्या अपनी इच्छानुसार उन राजकुमारों में से एक को पति के रूप में वरण करती थी। तदनन्तर विवाह सम्पन्न होता था।[160] कन्या जिस पुरुष का वरण करती थी, वही उसका पति होता था और ऐसी परिस्थिति में उसके बीच में व्यवधान डालना अनुचित था।[161] इस प्रक्रिया के अनुसार जय- सुलोचना,[162] वसुदेव- रोहिणी,[163] अर्जुन- द्रौपदी[164] आदि के विवाह सम्बन्ध सम्पन्न हुए हैं। द्वितीय प्रक्रिया में कन्या स्वयं अपनी कोई शर्त रखती है, जिसकी पूर्ति करने वाले के साथ उसका विवाह सुनिश्चित रहता है।[165] वसुदेव और गन्धर्वदत्ता का विवाह इस प्रक्रिया का एक ज्वलन्त प्रमाण है। स्वयंवर में प्रारम्भ से अन्त तक का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व कन्या पक्ष का होता था।[166]

पूर्व वैदिक युग में भी कन्या स्वयं अपने पति को चुन लेती थी,[167] जो स्वयंवर प्रथा के प्रारम्भिक स्वरूप की ओर इंगित करता है। उत्तर वैदिक काल तक आते- आते यह प्रथा समाज में काफी प्रचलित हो गई। इस प्रकार का विवाह आयोजित करते समय अनेक प्रकार की प्रतिज्ञाएँ और शर्तें भी लगायी जाने लगी, जो स्वयंवर - विवाह की अंग बन गई। राजा जनक ने सीता का स्वयंवर आयोजित करते समय शिव के धनुष को तोड़ने की एक शर्त रख दी और अपने प्रण की यह घोषणा की कि जो भी इस धनुष को तोड़ देगा उसी को सीता अपना वर चुनेगी।[168] राम के धनुष तोड़ने पर प्रण के फली- भूत होने पर ही सीता ने उन्हें अपना पति स्वीकार किया। बिना किसी

शर्त के आयोजित कुन्ती का स्वयंवर था जिसमें उसने पाण्डु को अपना पति स्वीकार किया था।[169] दमयन्ती का स्वयंवर भी इसी प्रकार का था। उसने अनेक लोगों में से नल का पति के रूप में वरण किया।[170] बौद्ध- ग्रन्थों से भी स्वयंवर- विवाह पर प्रकाश पड़ता है। असुरराज वेवपति की पुत्री ने अपना मनोनुकूल वर चुना।[171] परवर्ती साहित्यिक कृतियों में स्वयंवर- विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं।[172] "रघुवंश" में इन्दुमती के स्वयंवर का विशद वर्णन है। पूर्व मध्ययुग में भी स्वयंवर का आयोजन भव्य रूप में कराया जाता था। करहाट के शिलाहार राजा की पुत्री चन्द्रलेखा ने कल्याण-नरेश चालुक्य विक्रमांकदेव को अपना पति चुना था।[173] पृथ्वीराजरासो में संयोगिता के स्वयंवर का वर्णन अत्यन्त ललित और मधुर शब्दावली में किया गया है। इसके अनुसार जयचन्द ने अपनी पुत्री संयोगिता के लिए अत्यन्त भव्य स्वयंवर का आयोजन किया था। द्वयाश्रम महाकाव्य से विदित होता है कि मरु प्रदेश के शासक महेन्द्र ने अपनी बहन के लिए स्वयंवर- सभा का आयोजन किया था, जिसमें चौलुक्य- नरेश दुर्लभराज वर चुना गया था।[174]

धर्मशास्त्रकारों ने साधारणतः इस बात का अनुमोदन किया है कि अगर पिता अपनी कन्या के लिए वर नहीं चुन पाता है तो वह तीन ऋतुकाल बीत जाने पर स्वयं अपना पति चुन ले।[175] पति चुनने की यह अनुज्ञा निश्चय ही धर्म- शास्त्रकारों ने बड़ी कठिनाई और विकट स्थिति को देखकर की होगी। संरक्षक अथवा माता- पिता के अभाव में भी कन्या को अपना पति स्वयं चुन लेने की स्वतन्त्रता थी। अपना पति अपने मन के अनुसार चुन लेने पर कन्या को अपने माता-पिता की सम्पत्ति लौटा देनी पड़ती थी। ऐसी स्थिति में स्वयंवृत्त पति किसी प्रकार का शुल्क देने से बच जाता था। अतः इस व्यवहार की आस्था परिवार के सांपत्तिक अधिकार से थी। प्रारम्भ में स्वयंवर सभी वर्णों के लिए विहित था, किन्तु मध्ययुग में यह मात्र राजकुलों में ही सिमट कर रह गया।

राक्षस विवाह :-

------------ शक्ति या बल प्रयोग द्वारा युद्ध और संघर्ष के माध्यम से से किसी कन्या का अपहरण करके विवाह करना राक्षस विवाह था। इसमें क्रूरता के साथ कपट और बलपूर्वक कन्या का अपहरण किया जाता था, इसीलिए इसे राक्षस विवाह कहा गया। मनु के अनुसार कन्या- पक्ष वालों को मारकर अथवा उनको घायल करके गृह के द्वार आदि को तोड़कर तथा रोती- चिल्लाती कन्या का बलात्- हरण करके लाना राक्षस विवाह है।[176] यह विवाह प्रकार सम्भवत: आदिम जातियों में प्रचलित था, जो बाद तक चलता रहा। चूंकि यह विवाह क्रूरता और निर्दयता पर आधारित था इसलिए इसे राक्षस विवाह कहा गया। शक्ति और बल का प्रदर्शन केवल क्षत्रिय हो कर सकते थे, अत: यह विवाह उन्हीं के लिए सुखद था। महाभारत में स्त्रियों को बलपूर्वक हर ले जाना क्षत्रियों के लिए उत्तम मार्ग माना गया है। अपहृत कन्या को पूर्णत: अविवाहित कहा गया है और दूसरे के साथ उसका विवाह होना समुचित माना गया है।[177] पो0 थामस के मतानुसार जैन धर्म में राक्षस विवाह को मान्यता प्रदान नहीं की गई है,[178] परन्तु यह मत अमान्य है। जैनी सम्प्रदाय विशिष्ट आदर्श की ओर संकेत अवश्य करते हैं, किन्तु यथार्थता यदि आलोचित ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में समग्रता की दृष्टि से देखा जाय तो स्थिति भिन्न दृष्टिगोचर होती है। जैन महापुराण में राक्षस- विवाह के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। कन्या को बलात उसके परिवार वालों को मारकर हरण कर लेते थे और अपने यहाँ लाकर विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न करते थे।[179] जमदग्नि ने रेणुका को,[180] राजा सगर ने सुलक्षा को[181] तथा कृष्ण ने जाम्बवती को[182] इसी रीति से प्राप्त किया था । परन्तु इसमें संकोच, अपमान एवं भय की अत्यधिक संभावना रहने के कारण महाकवि ने अपवाद रूप में ही इसे ग्रहण किया है। राक्षस

विवाह के प्राचीन कालीन उदाहरण मिलते हैं। पुरुमित्र की पुत्री कमद्यु का विमद ने अपहरण किया था।[183] काशी- नरेश को पराजित कर भीष्म ने उसकी कन्या से अपने अनुज विचित्रवीर्य का विवाह सम्पन्न किया था।[184] श्रीकृष्ण ने रुक्मी को पराजित कर उसकी पुत्री रुक्मिणी से शादी की थी।[185] अर्जुन ने कृष्ण की बहन सुभद्रा का बलात् हरण करके विवाह किया था जिसमें श्रीकृष्ण की पूर्ण सहमति थी।[186]

बौद्ध साहित्य में भी राक्षस विवाह के कतिपय उदाहरण मिलते हैं। चोरों के एक नेता ने ग्रामीण कन्या का अपहरण कर विवाह किया था। एक राजा ने अपने शत्रु राजा को मारकर उसकी पत्नी से स्वयं विवाह कर लिया था।[187] इस प्रकार पराक्रम और शौर्य प्रदर्शित करके कन्या का अपहरण कर विवाह करने के उदाहरण प्राचीन काल में प्रत्येक युग में मिलते हैं। पूर्व मध्य युग में भी पृथ्वीराज चौहान और संयोगिता का विवाह इसी आधार पर हुआ था।

अतः स्पष्ट है कि राक्षस विवाह का प्रचलन महापुराण में ही नहीं अपितु प्राचीन काल में भी था।

विवाह विषयक नियम :- जैन महापुराण के अध्ययन से तत्कालीन समाज में प्रचलित विवाह के नियमों एवं प्रतिबन्धों पर प्रकाश पड़ता है। इसका उल्लेख अधोलिखित है -

सवर्ण विवाह :- विवाह विषयक नियमों और उपनियमों की दृष्टि से महापुराण तथा इनसे इतर साक्ष्यों में जहाँ कहीं समानता दृष्टिगत होती है, उनमें सवर्ण विवाह विशेषतया उल्लेखनीय है। जैन सम्प्रदाय द्वारा सम्मत

विधि-निषेध में कहीं तो ब्राह्मण परम्परा से समानता है और कहीं विषमता दिखाई देती है। वैदिक युग में विवाह के लिए सम्भवत: वर्णपरक प्रतिबन्ध समाज में नहीं था, बल्कि उस युग में असवर्ण विवाह होते रहते थे। ऐसे विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ब्राह्मण ऋषि च्यवन ने क्षत्रिय राजकुमारी सुकन्या से विवाह किया था, श्यावाश्व नामक ब्राह्मण मनीषी ने क्षत्रिय शासक रथवीति दार्म्य कन्या से परिणय किया था, आदि।[188] वस्तुत: सवर्ण विवाह के प्रति अधिक बल सूत्रों और स्मृतियों के युग में दिया जाने लगा, जब सभी वर्ण एक दूसरे से अलग हो गए। कालान्तर में आकर सभी धर्मशास्त्रकारों ने सवर्ण विवाह की प्रशंसा की तथा अपने ही वर्ण में विवाह करना उत्कृष्ट माना। यद्यपि वैदिक युग में सवर्ण विवाह का क्षेत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तक काफी प्रशस्त था, किन्तु बाद में अपने ही तक सीमित हो गया। गौतम के अनुसार असवर्ण विवाह निम्न था।[189] मनु, याज्ञवल्क्य और नारद जैसे लेखकों ने सवर्ण स्त्री से विवाह करने पर श्रेष्ठता की बात कही है।[190 अ] सवर्ण स्त्री सर्वश्रेष्ठ मानी भी गई है। उक्त परम्परा महापुराण के विचार के अधिक सन्निकट है। महापुराण में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि सवर्ण विवाह का समाज में अत्यधिक मान और महत्व था।[190 ब] मत्स्यपुराण से विदित होता है कि ब्राह्मण कन्या देवयानी ने राजकुलोत्पन्न ययाति से प्रणय-विवाह के लिए प्रार्थना की थी, जिसे उसने सवर्ण न होने के कारण अस्वीकार कर दिया था। कालान्तर में जो जातियाँ और उपजातियाँ बनी, वे भी क्रमश: अपनी ही जाति में समा गईं। अपनी जाति के बाहर विवाह करने वाला व्यक्ति निन्दनीय माना जाने लगा। स्वजाति में विवाह करना सामाजिक प्रतिष्ठा और कुलगत गौरव की बात कही गई। विवाह के सन्दर्भ में जातकों में सर्वत्र जाति और कुल एक साथ विवृत हुए हैं।[191] बाद में आकर सवर्ण

अथवा सजातीय विवाह समाज में अत्यन्त प्रतिष्ठित माना जाने लगा तथा अपने वर्ण और जाति के बाहर विवाह करना घोर अप्रतिष्ठा और हीनता की बात कही गई।

अनुलोम विवाह :-

हिन्दू समाज में प्राचीनकाल से अन्तर्वर्णीय या अन्तर्जातीय विवाह होते रहे हैं। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह का प्रचलन इसी के अन्तर्गत् था। परन्तु जैन महापुराण अनुलोम विवाह को ही मान्यता देता है प्रतिलोम को नहीं। अनुलोम विवाह के अनुसार शूद्र शूद्र कन्या के साथ, वैश्य, वैश्य कन्या और शूद्र कन्या के साथ, क्षत्रिय, क्षत्रिय-कन्या, वैश्य कन्या और शूद्र कन्या के साथ एवं ब्राह्मण चारों वर्णों की कन्याओं के साथ विवाह कर सकता था।[192] अनुलोम विवाह में ऊँचे वर्ण का पुरुष होता था और निम्न वर्ण की स्त्री। वैदिक- युग में वर्ण और जाति का कठोर बन्धन नहीं था, इसलिए इस तरह के विवाह बहुधा हुआ करते थे। इस प्रकार के वैदिकयुगीन साक्ष्य हैं। भृगुवंशी ब्राह्मण ऋषि च्यवन ने क्षत्रिय राजकुमारी सुकन्या से विवाह किया था।[193] ब्रह्मर्षि श्यावश्य ने क्षत्रिय राजकुमारी रथवीति को अपनी पत्नी बनाया था।[194] वृष्णिवंशीय शौरि की पत्नियों में से एक वैश्य की पुत्री थी।[195] वात्स्य और काक्षीवान् जैसे तपस्वियों का जन्म ब्रह्मर्षि और शूद्रा की संयुक्ता से हुआ था।[196] वशिष्ठ के पुत्र शक्ति का विवाह वैश्य कन्या अदृश्यन्ती से हुआ था।[197] ब्राह्मण ऋषि अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा क्षत्रिय थी।[198] वैदिक युग के बाद ऐसे विवाह निन्दय कहे गये तथा समाज में इनका मान कम हो गया। सवर्णा स्त्री की उपस्थिति में असवर्णा स्त्री को धार्मिक कार्य सम्पन्न करने से वंचित कर दिया गया।[199] समाज में सवर्णा स्त्री प्रतिष्ठित और अभिशंसित मानी गई।[200] ब्राह्मणों को सभी वर्णों की कन्याओं से परिणय करने का अधिकार प्राप्त था।[201] शास्त्रों के अनुसार अनुलोम से ब्राह्मण

तीन (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्याओं से), क्षत्रिय दो (वैश्य और शूद्र कन्याओं से) वैश्य मात्र एक (शूद्र कन्या से) अतिरिक्त विवाह कर सकता था।[202] अनुलोम विवाह के अनेक ऐतिहासिक उदाहरण भी मिलते हैं। पुष्यमित्र शुंग के पुत्र अग्निमित्र का विवाह क्षत्रिय नरेश यज्ञसेन की पुत्री मालविका से हुआ था।[203] ब्राह्मणवंशी वाकाटक-नरेश रुद्रसेन द्वितीय ने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता से विवाह किया था। रविकीर्ति नामक ब्राह्मण ने वैश्य कुलोद्भवा भानुगुप्ता से शादी की थी।[204] वाकाटक-राज देवसेन के मंत्री सोमनाथ नामक ब्राह्मण ने ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय स्त्री से भी विवाह किया था।[205] कदम्ब-वंशी शासक मयूर शर्मा ब्राह्मण था, किन्तु उसके वंश की कन्याएँ गुप्तों से ब्याही गईं।[206] बाण के सौतेले भाई चन्द्रसेन और मातसेन शूद्रा से उत्पन्न हुए थे।[207] ब्राह्मण कवि राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी चौहानवंशी क्षत्रिय थी।[208] राजतरंगिणी में उल्लिखित है कि संग्रामराज ने अपनी पुत्री लोठिका का विवाह दिद्दामठ के अध्यक्ष प्रेम नामक ब्राह्मण से किया था।[209] कथासरित्सागर से विदित होता है कि अशोकदत्त नामक ब्राह्मण ने क्षत्रिय राजकुमारी से विवाह किया था।[210] अलबीरूनी के अनुसार[211] पुरुष अपने से निम्न वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता था। किन्तु वह आगे कहता है कि ब्राह्मण कभी अपने से निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह नहीं करते थे।[212] ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वमध्य युग के ब्राह्मणों में विवाह सम्बन्धी कुछ कठोरता आ गई थी। उसके इस कथन के विपरीत पूर्वमध्ययुगीन भाष्यकारों ने यह माना है कि ब्राह्मण अपने से निम्न वर्ण की कन्या से शादी कर सकते थे।[213] इन उद्धरणों से प्रकट होता है कि अनुलोम विवाह प्रथा समाज में भी वर्तमान थी। इस सम्बन्ध में अलबीरूनी का कथन युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि तत्कालीन समाज में भी ऐसे विवाह अनजाने नहीं थे। फिर भी ऐसे विवाह को शास्त्रकारों ने अपेक्षाकृत प्रशस्त नहीं कहा है। ग्यारहवीं शती के बाद से अनुलोम विवाह सम्बन्धी नियम सिद्धान्त मात्र ही रह गए। प्रत्येक

व्यक्ति अपनी ही अजाति की स्त्री से विवाह करता रहा है जो दसवीं शदी से बहुत अधिक प्रचलित हुआ।[214] इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न संतान की सवर्ण विवाह से उत्पन्न सन्तान की तुलना में अत्यल्प अधिकार प्राप्त था। अनुलोम से उत्पन्न सन्तान को पिता की सम्पत्ति में बहुत कम अंश मिलता था।[215]

महापुराण में उल्लिखित दो स्थल विशेषत: ध्यातव्य हैं, जो अनुलोम विधि की मान्यता की ओर स्पष्टतया संकेत करते है। प्रतिलोम विवाह के निदर्शक प्रमाण इस महापुराण में उपलब्ध नहीं है। दूसरी ओर स्थिति यह है कि धर्मशास्त्रों की भाँति ही जैनेतर पुराण ग्रन्थ असगोत्र, असप्रवर और असपिण्ड विवाह के पक्ष में कदापि नहीं हैं, किन्तु जैन परम्परा के नियामक आगमों तथा जैन पुराणों से विदित होता है कि इस कोटि के विवाहों का प्रचलन तत्कालीन समाज में अवश्य था। उदाहरणार्थ भाई-बहन, मामा, बुआ, मौसी की लड़की, सौतेली माता, देवर, मामा-फूफा, ममेरी बहन आदि के साथ विवाह का उल्लेख प्राप्य है।[216] सामान्यतया वैदिक धर्म में उक्त विवाह करना निषिद्ध था।[217] तथापि कतिपय स्मृतिकारों ने प्रायश्चित सहित इसकी स्वीकृति प्रदान कर दी थी।[218] न्यूनाधिक अंशों में उक्त जैन परम्परा के भेद का कारण स्थानीय भिन्नता थी। क्योंकि जैसा कि महामहोपाध्याय पी० वी० काणे ने स्पष्ट किया है कि "मातुल-कुल" में विवाह का प्रचलन दाक्षिणात्यों में था।[219] जैन पुराणों के सम्बन्धित स्थल विन्ध्य प्रान्तर के दक्षिणी भाग सम्भवत: सौराष्ट्र क्षेत्र के आसपास लिखे गये थे।

अनुलोम विवाह के परिणाम -

हिन्दू समाज पर अनुलोम विवाह के परिणाम अत्यन्त दूरगामी हुए तथा इस विवाह प्रणाली ने अनेक विकट समस्याएँ उत्पन्न की :-(1) उच्च

वर्णों और जातियों का महत्त्व समाज में बहुत अधिक बढ़ गया तथा उनकी सन्तानें विशिष्ट स्थान ग्रहण करने लगीं। §2§ ऊँचे वर्णों और जातियों के लड़कों की माँग समाज में बढ़ गई तथा अच्छे और ऊँचे परिवार के लड़कों के लिए भीड़ लगी रहने लगी। सभी लोग ऊँचे वर्ण अथवा जाति के लड़कों से अपनी लड़कियों का विवाह करने के लिए इच्छुक हुए। इससे वैवाहिक प्रतियोगिता में तीव्रता आयी तथा ऊँचे वर्ण में विवाह करने के लिए लड़की वालों की भीड़ होने लगी। इसका लड़के वाले परिवार ने अनुचित लाभ उठाकर अधिकाधिक धन की माँग करने लगे, जो दहेज प्रथा के रूप में संक्रामक रोग की तरह समाज में फैली। §3§ दूसरी ओर निम्न वर्णों और जातियों में लड़कियों की माँग बढ़ गई, जिसके कारण कन्याओं का मूल्य दिया जाने लगा। अनेक निम्न जातियों में आज भी कन्या- मूल्य लिया जाता है। §4§ इस विवाह के परिणामस्वरूप बहुपत्नी प्रथा का प्रारम्भ हुआ, क्योंकि उच्च जातियों और वर्णों में लड़कों की माँग बढ़ गई थी तथा सभी लोग ऊँची जाति के लड़कों के साथ अपनी कन्या का विवाह करना चाहते थे। कहीं- कहीं ऊँचे वर्ण अथवा जाति के लोग अनेकानेक पत्नियाँ रखने लगे। इस प्रकार नैतिक स्तर का ह्रास होने लगा। §5§अनुलोम विवाह के फलस्वरूप बेमेल विवाह का भी प्रारम्भ हुआ। ऊँची जाति में विवाह करने की लालसा ने लोगों को यहाँ तक बाध्य किया गया कि लोग ऊँची जाति के वृद्ध व्यक्ति से भी अपनी कन्या का विवाह करने लगे, जिससे समाज में बाल- विवाह जैसी नयी समस्या का प्रारम्भ हो गया। ऊँची जाति के ऐसे वृद्ध व्यक्ति की कई - कई शादियाँ होने लगी और बेमेल विवाह का समाज में तीव्रता से विस्तार होने लगा। §6§ वृद्ध व्यक्तियों से कन्याओं का विवाह होने के कारण बाल- विधवा की भी

समस्या उठ खड़ी हुई। वृद्ध व्यक्ति का बाल-पत्नी की तुलना में शीघ्र मृत होना स्वाभाविक था। (7) ऊँची जाति से सम्बन्धित होने के कारण और उत्तरदायित्व से मुक्त होने के लिए लोग अपनी सन्तान का विवाह बाल्यावस्था में ही करने लगे जिससे बाल- विवाह की समस्या बढ़ गई। (8) अनुलोम विवाह के कारण रूढ़िवादिता और संकीर्णता का प्रसार हुआ। समाज में सामाजिक समस्याओं और कर्मकाण्डों की वृद्धि हुई, जिससे सांस्कृतिक ह्रास प्रारम्भ हो गया।

एकपत्नीव्रत और बहुविवाह :-

प्राचीन काल से हिन्दू परिवार में एक विवाह का महत्त्व रहा है। एक विवाह, विवाह का वह स्वरूप है जिसमें किसी एक ही समय कोई भी व्यक्ति एक से अधिक स्त्री अथवा एक से अधिक पुरूष से विवाह नहीं कर सकता। एक ही पत्नी या एक ही पति के साथ जीवनपर्यन्त रहना "एक विवाह" का वास्तविक स्वरूप रहा है। हिन्दू विवाह का आदर्श भी एक ही विवाह रहा है जिसमें स्त्री के लिए एक ही पति और पुरूष के लिए एक ही पत्नी का महत्त्व रहा है। एक पति अथवा एक पत्नी के रहते हुए कोई पक्ष दूसरी स्त्री अथवा पुरूष से विवाह नहीं कर सकता। "दम्पति" शब्द में ही इसकी पूर्ण सार्थकता है। "धर्मपत्नी" भी एक ही हो सकती थी, सभी नहीं। समाज में उसका स्थान अत्यन्त उच्च और उन्नत रहा है, इसीलिए वह पुरूष की शरीरार्द्ध[220] और अर्द्धांगिनी[221] थी। वेदों में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि एक विवाह आदर्श विवाह था।[222] जिसके अन्तर्गत् पति- पत्नी अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार धर्म-प्रजा- युक्त पत्नी के रहते हुए दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करना चाहिए।[223] नारद का मत है

कि अनुकूल, अवाग्दुष्ट ॥मधुभाषिणी॥, गृहकार्य में कुशल, साध्वी ॥पतिभक्त॥, प्रजावती ॥सन्तानयुक्त॥ पत्नी का त्याग करने वाले पति को कठोर दण्ड से राजा उचित मार्ग पर रखे।[224] समाज में ऐसे पुरूष भी रहे हैं जिन्होंने पुत्र न होने पर भी दूसरा विवाह नहीं किया और जिनका आदर्श जीवनपर्यन्त एक पत्नी ही बनी रही। ज्यामघ- नरेश अपनी पत्नी शैब्या के वशीभूत था, इसलिए अपुत्रता के निवारणार्थ उसने दूसरा विवाह नहीं किया तथा राम ने सीता को वन में निष्कासित करने के बाद भी दूसरा विवाह न करके एकपत्नीत्व का आदर्श उपस्थित किया।[225] सन्तान रहते हुए अपनी पत्नी को जो त्यक्त करता था वह दण्डयोग्य माना जाता था।[226] वस्तुतः एक पत्नी और एक पुरूष का सम्बन्ध "मणिकांचन संयोग" माना जाता था, जो जन्म जन्मान्तर का होता था। हिन्दू समाज में एक विवाह के कई कारण हैं ॥1॥ समाज में रहने वाला कोई भी व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरूष अपने अधिकार का बँटवारा अनेक व्यक्तियों में नहीं चाहता। इसीलिए एक विवाह का प्रचलन समाज में अधिकाधिक हुआ। ॥2॥ समाज में स्त्री और पुरूष का समान अनुपात होता है, अतः एक व्यक्ति को एक जीवन साथी चुनने का अवसर मिलता है। ॥3॥ कोई भी व्यक्ति पारिवारिक संघर्ष नहीं चाहता। इस विवाह- प्रथा के कारण अनेक परिणाम हुए, जिसमें लाभ - हानि दोनों हैं। ॥अ॥ एक विवाह के अन्तर्गत् स्त्री- पुरूष के पारस्परिक अधिकार सर्वाधिक सुरक्षित रहे। ॥ब॥ एक पति अथवा पत्नी के कारण परिवार अधिक स्थायी और स्थिर रहे। ॥स॥ एक विवाह से समाज में स्त्रियों का स्थान सम्माननीय था।

एक विवाह के अन्तर्गत् स्त्री - पुरूष में जो भी प्रबल हुआ, एक दूसरे का शोषण करने लग जाता था और दूसरे पक्ष का जीवन दूभर होने लगता

था। समग्र रूप से यह अभिव्यक्त किया जा सकता है कि एक विवाह-प्रणाली से परिवार और समाज दोनों का अभ्युत्थान होता था। किन्तु विषम एवं विशेष परिस्थितियों में बहुविवाह को भी मान्यता मिली थी। बहुविवाह का अभिप्राय है अपने पति अथवा पति के जीवनकाल में ही एक से अधिक पति अथवा पत्नी को जीवनसाथी के रूप में रखना है। इसके अतिरिक्त एकपत्नी व्रत का नियम राज परिवार को आबद्ध्य नहीं कर सकता था। उदाहरणार्थ भास द्वारा रचित "स्वप्नवासवदत्तम्" नामक नाटक में उदयन की सपत्नियों को ईर्ष्या की ओर संकेतात्मक चित्रण मिलता है।[227] कालिदास के शाकुन्तल में राजाओं के बहुपत्नीत्व का उल्लेख प्राप्य है।[228] ऋग्वेद से विदित होता है कि उस युग में भी लोग कई पत्नियाँ रखते थे।[229] बौद्ध साहित्य से भी बहुविवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अंगुत्तर निकाय में एक व्यक्ति की चार पत्नियों का विवरण दिया गया है।[230] जातकों में भी कई पत्नियों वाले पुरुष की कथाएँ विवृत हैं।[231] मनु और याज्ञवल्क्य का विचार है कि विवाह धर्मकार्य के अतिरिक्त काम का भी शमन करता है इसलिए अनुलोम के अनुसार ब्राह्मण चार, क्षत्रिय तीन, वैश्य दो और शूद्र एक पत्नी रख सकता है।[232] राजा दशरथ की कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा नामक तीन पत्नियाँ थीं।[233] चन्द्रापीड को उसकी माँ ने अनेक बहुओं वाला पति होने का आशीर्वाद दिया था।[234] माघ के शिशुपालवध में भी एक पुरुष की अनेक पत्नियों का वर्णन है।[235] अन्य जैनेतर साक्ष्यों से भी बहुविवाह का उल्लेख उपलब्ध है।[236] महापुराण में राजाओं तथा समाज के धनी एवं सम्पन्न लोगों की कई पत्नियों का उल्लेख आया है।[237] महापुराण में भरत की 96,000 रानियों का वर्णन है।[238] पद्मपुराण भी महापुराण के तथ्यों की पुष्टि करता है।[239]

विवेच्य महापुराण के प्रणयनकाल में यह परम्परा विशेषतः प्रचलित थी कि राजकुल में बहुविवाह एक लोकप्रिय परम्परा थी। तत्कालीन नरेशों

के अनेक अन्तःपुर होते थे जिनका सम्बन्ध अनेक रानियों से था। राजकुल के अतिरिक्त यह प्रथा अन्य सम्पन्न परिवारों में भी प्रचलित थी।[240] इस प्रथा का एक मात्र कारण राजाओं की विलासिता को माना जा सकता है। वस्तुतः इस युग में बहुविवाह करना शौर्य एवं पराक्रम का द्योतक माना जाता था।

विवाहार्थ वर-कन्या की आयु, गुण एवं लक्षण :-

वैदिक- युग में वर और बधू का विवाह यौवन- प्राप्ति के बाद युवा होने पर ही किया जाता था। कन्या और वर जब एक दूसरे को मन से इच्छा कर सकने में समर्थ होते थे तब विवाह की आयोजना की जाती थी।[241] स्वेच्छा से एक दूसरे को अंगीकार करना,[242] एक दूसरे के स्पर्श से रोमांचित होना[243] आदि वयस्क विवाह के प्रमाण हैं। सूत्रों, स्मृतियों एवं टीकाकारों ने कन्या के लिए विवाह योग्य कम आयु बतलायी है।[244] जैन सूत्रों में विवाह की आयु कम थी। अलबीरुनी के अनुसार ग्यारहवीं शती में हिन्दुओं में विवाह की आयु कम थी।[245] ब्राह्मण वर की सामान्य आयु 12 वर्ष की थी। क्षेमेन्द्र ने बाल विधवा का उल्लेख किया है। ढाका संग्रहालय से प्राक-मुस्लिम काल की स्थापत्य कलाकृतियों के आधार पर कन्या के विवाह की आयु 13-14 वर्ष कथित है।[246] गृहस्थ रत्नाकर से विदित होता है कि विवाह योग्य कन्या की आयु 12, 16 और 20 वर्ष होती थी।[247] किन्तु इस मत को सभी धर्मशास्त्रकार नहीं मानते। कन्या की आयु 12 वर्ष तक की हो, इस पर प्रायः अधिकांश धर्मशास्त्री और स्मृतिकार एकमत हैं।

महापुराण के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वर-कन्या का विवाह बड़े होने पर किया जाता था।

भारतीय आदर्श के अनुसार समान स्थिति वालों में ही विवाह करना अपेक्षित है।[248] इस परम्परा को निर्देशिका जो धर्मशास्त्रीय वारि-धारा चली आ रही थी, उसका सम्यक निर्वाह यदि एक ओर जैनेतर-पूर्वकालीन पौराणिक सम्प्रदाय ने स्वीकार किया था[249] तो दूसरी ओर जैन महापुराण ने इनके पारम्परिक मन्तव्य से प्रेरणा प्राप्त किया था।[250] उक्त पुराण में वर के कुल, शील, धन, रूप, समानता, बल, अवस्था, देश और विद्यागम इन नौ गुणों पर विशेष बल दिया है।[251] महापुराण में वर्णित है कि कुल, रूप, सौन्दर्य, पराक्रम, वय, विनय, विभव, बन्धु एवं सम्पत्ति आदि गुण श्रेष्ठ वर में उपलब्ध होते हैं।[252] जैन महापुराण में वर को उच्च कुलीनता पर विशेष बल दिया गया है। पद्मपुराण में श्रेष्ठ कन्या को विनयी, सुन्दर, चेष्टायुक्त वर्णित किया है।[253] महापुराण में वर्णित है कि यदि कन्या में अच्छे लक्षण नहीं होते हैं, तब उसे कोई पुरुष ग्रहण नहीं करता और ऐसी परिस्थिति में उसे मृत्युपर्यन्त पिता के घर में रहना पड़ता है।[254] जैन आगमों में विवाहार्थ कन्या का वर के अनुरूप वय, लावण्य, रूप, यौवन तथा समान कुल में उत्पन्न होने पर बल दिया है।[255]

यह उल्लेखनीय है कि उक्त लक्षणों के सुनिरीक्षण का प्रधान उद्देश्य दाम्पत्य-जीवन को सुखद बनाना और सामाजिक अवस्था के मूलाधार बनाना गार्हस्थ्य एवं पारिवारिक जीवन को संतुलित बनाना रहा होगा। यह परम्परा भारतीय जीवन में प्रारम्भ से चलती आ रही थी। इनके प्रमाण पूर्वकालीन सूत्र एवं स्मृति ग्रन्थों से ही मिलने लगते हैं। उदाहरणार्थ आश्वलायनगृहसूत्र में उसी कन्या के साथ विवाह अपेक्षित माना गया है, जो बुद्धि, रूप, शील और स्वास्थ्य से सम्पन्न हो।[256]

दहेज प्रथा :-

दहेज के लिए "प्रीतिदान" शब्द प्रयुक्त हुआ है। जैन महापुराण से ज्ञात होता है कि दहेज के रूप में पिता वर को धन देता था और दान- दहेज देने पर विवाह सम्पन्न होता था।[257] महापुराण एवं पाण्डवपुराण में वर्णित है कि चक्रवर्ती राजा अपनी पुत्री को दहेज के रूप में हाथी, घोड़े, पियादे, रत्न, देश एवं कोष, कुल परम्परा में चला आया बहुत सा धन आदि देते थे।[258] यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि दहेज प्रथा समाज में प्रचलित थी और लोग अपनी यथाशक्ति दहेज देते थे।

विवाह विधि :-

महापुराण में विवाह विधि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन आता है।[259] इसमें वर्णित है कि शिष्टजन एवं ज्योतिषियों के निदेशानुसार उत्तम एवं शुभ मुहूर्त, तिथिकरण, नक्षत्र तथा योग में कन्यादान का विधान विहित है।[260] जैन आगम में मँगनी या तिलक जैसी कोई परम्परा का उल्लेख नहीं प्राप्य है। वस्तुतः पाणिग्रहण के निश्चयार्थ समाज के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों के समक्ष केवल एक श्रीफल के आदान- प्रदान को ही पर्याप्त माना गया था।[261] विवाह किसी तीर्थस्थान या सिद्ध प्रतिमाओं को सम्मुख रखकर सम्पन्न करते थे। विवाह के समय विशेष उत्सव मनाये जाते थे जिनमें वाद्य-संगीत की प्रधानता थी।[262] आवास स्थल को सुसज्जित किया जाता था। इस अवसर पर सज्जनों एवं बन्धु- बान्धवों का समागम होता था। कुलांगनाओं बन्धुजनों द्वारा वर- वधू को आशीर्वाद देने के लिए अक्षत का प्रयोग किया जाता था।[263] अभिषेक के उपरान्त वर- कन्या को यथाशक्ति सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण पहनाते तथा प्रसाधन कराते थे। अभिषेक के बाद पूर्व दिशा में सिद्ध भगवान की पूजा करके तीन अग्नियों का पूजन करते थे। विवाह के समय

वर- कन्या श्रृंगार करते थे।[264] पाणिग्रहण के बाद वर- वधू को मनोहर चैत्यालय में ले जाकर अर्हन्तदेव को पूजा कराते थे।[265] विवाह के दूसरे दिन वर-वधू महापूत चैत्यालय घर के बाहर (जिन मन्दिर) जाते थे।[266] विवाह के दिन से वर- वधू देव एवं अग्नि को साक्षीपूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्य व्रत रहते थे।[267] प्रसंगत: यहाँ उल्लेखनीय है कि वैदिक परम्परा में केवल तोन रात्रि के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करते थे।[268] पद्मपुराण के अनुसार विवाहोपरान्त वर-वधू स्वविवेकानुसार स्थान पर जाकर विवाह का प्रथम आनन्द मनाते थे।[269] महापुराण में भो काम- सम्बन्ध को स्थापना के लिए गृहनिष्कासन का स्पष्ट विधान है।[270] महापुराण में उल्लेखनीय है कि निर्धारित बेला में काम-वासना से निरपेक्ष केवल सन्तानोत्पत्ति को लक्ष्य में रखकर वर- वधू का समागम स्पृहणीय माना जाता था।[271] यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि जैनाचार्यों ने सृष्टि को अनवरत चलाने के लिए हो सन्तानोत्पत्ति को प्रधान लक्ष्य माना है। इसी उद्देश्य को पूर्ति के लिए कामवासना को गौण स्थान पर रखा है। वैसे जैन धर्म विशेष रूप से निवृत्तिप्रधान धर्म है और ब्रह्मचर्य पर विशेष रूप से बल दिया गया है।

संस्कार :-

प्राचीन काल से हिन्दू समाज में संस्कारों का संयोजित विधान रहा है। जीवन में इसकी संयोजना इसलिए की गयी कि मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक विकास हो सके तथा उसका दैहिक और भौतिक जीवन सुव्यवस्थित हो सके। संस्कार शब्द की व्याख्या दो प्रकार से को जा सकती है : एक व्युत्पत्तिमूलक और दूसरा व्यवहारमूलक। जहाँ तक प्रथम व्याख्या का सम्बन्ध है, इस शब्द की निष्पत्ति "सम" पूर्वक कृ धातु में "घञ" प्रत्यय से मानी गई

है। "संस्क्रियते अनेन इति संस्कार:।" इसका अर्थ है संस्करण या परिमार्जन अथवा शुद्धोकरण। मूलत: इसका तात्पर्य शुद्धोकरण से है जिसका प्रयोग संस्कृत साहित्य में अनेक अर्थों में हुआ है, जैसे शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सोजन्य, पूर्णता, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि, संस्करण, परिष्करण, शोभा, आभूषण, प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, स्मरणशक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव, शुद्धि-क्रिया, धार्मिक-विधि-विधान, अभिषेक, विचार, भावना, धारणा, कर्म का परिणाम, क्रिया को विशेषता आदि अर्थों में हुआ है। कतिपय विद्वानों ने संस्कार शब्द को लैटिन के "सोरीमोनिया" ( ) और अंग्रेजो के सेरीमनो ( ) शब्दों का समन्तरोय माना है। "सोरीमोनिया" और "सेरीमनो" शब्द सामान्यत: धार्मिक कृत्यों के द्योतक हैं। व्यवहारमूलक व्याख्या को दृष्टि से "संस्कार" शब्द इनसे पर्याप्त भिन्न है। इसका अभिप्राय नितान्त वाह्य धार्मिक क्रियाओं, अनुशासनपरक अनुष्ठान, आडम्बर, निस्तत्त्व कर्मकाण्ड, राज्य के द्वारा निर्दिष्ट प्रचलनों, औपचारिकताओं तथा अनुशासनपरक व्यवहार से नहीं है। ऐसो स्थिति में संस्कार को उक्त दोनों शब्दों का समानार्थक नहीं माना जा सकता। इसके विपरोत "संस्कार" शब्द से तात्पर्य न्यूनाधिक सोमा तक समता रखने वाला अंग्रेजो का सेक्रामेण्ट ( ) शब्द है जिसका उद्देश्य है आन्तरिक शुचिता और जिसके विधि-विधान आन्तरिक शुचिता के दृश्यमान बाह्य प्रतोक माने जा सकते हैं।

सामान्यतया प्राचोन भारतोय आदर्श के व्यवस्थापकों ने "संस्कार" का तात्पर्य ऐसो क्रिया से माना है जिसके द्वारा व्यक्ति विशेष को पात्रता सामाजिक गतिविधि के अनुकूल बनायो जातो थी, उदाहरणार्थ जैमिनि सूत्र (3/1/3) को व्याख्या में शबर ने संस्कार शब्द को व्याख्या

करते हुए वर्णन किया है कि "संस्कारो नाम स भवति यस्मिन्जाते पदार्थो भवति योग्य: कस्यचिदर्थस्य" - संस्कार वह है जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य हो जाता है। इसी प्रकार कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्त्तिक में कहा है कि "योग्यतां चादधाना: क्रिया: संस्कारा इत्युच्यन्ते" - संस्कार वे क्रियाएँ तथा रीतियाँ है, जो योग्यता प्रदान करती हैं।[272]

प्रारम्भ काल में जैनधर्म में संस्कार नहीं था। किन्तु श्रौत, स्मार्त, ब्राह्मण धर्म के प्रभाव के कारण महापुराण में गर्भ से लेकर मृत्युपर्यन्त सभी क्रियाओं (संस्कार) के विषय में विशद वर्णन उपलब्ध हैं। संस्कार के लिए महापुराण में क्रिया शब्द व्यवहृत हुआ है। ये "क्रियाएँ" या "संस्कार" व्यक्ति के निजी जीवन से सम्बद्ध रहती हैं। गर्भाधान से निर्वाण पर्यन्त जो क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं उन्हें ही संस्कार समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त गर्भ से मरणपर्यन्त जो क्रियाएँ अन्य लोगों ने कही है, वे यथार्थ नहीं हैं।[273] महापुराण के अनुसार जीवों का जन्म दो प्रकार का है- शरीर-जन्म तथा संस्कार- जन्म। "शरीर-जन्म" में प्रथम शरीर का क्षय हो जाने पर दूसरे पर्याय में अन्य शरीर की प्राप्ति होती है और "संस्कार- जन्म" में संस्कार के योग से आत्मलाभ प्राप्त पुरुष को द्विजत्व की प्राप्ति होती है।[274] जन्म के समान मृत्यु भी दो प्रकार का कथित है - शरीर मृत्यु और संस्कार- मृत्यु। आयु के अन्त में शरीर त्यागने को "शरीर-मृत्यु" एवं व्रती पुरुषों द्वारा पापों के परित्याग करने को "संस्कार- मृत्यु" कहते हैं।[275] संस्कार की महत्ता प्रदर्शित करते हुए वर्णित है कि जो भी व्यक्ति आलस्य रहित यथाविधि संस्कारों (क्रियाओं) का सम्पादन करते हैं, उन्हें परम-धाम एवं उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है। संसार के भवबन्धन जन्म, वृद्धा-

वस्था एवं मृत्यु से उन्हें मुक्ति मिलती है। ऐसे श्रेष्ठ जाति में जन्म ग्रहण कर सद्गृहस्थ एवं परिव्रज्या को व्यतीत कर स्वर्ग में इन्द्र की लक्ष्मी प्राप्त करते हैं। स्वर्ग से च्युत होने पर क्रमशः चक्रवर्ती तथा अर्हन्तपद के बाद निर्वाण को प्राप्त करते हैं।[276] इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कार को सम्पन्न करने पर क्रमशः अभ्युदय की उपलब्धि होती है।

संस्कारों की संख्या -

हिन्दू समाज में संस्कारों का प्रचलन वैदिकयुग से ही रहा है, किन्तु इनका विवरण वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। सूत्रों और स्मृतियों में इनके विषय में विस्तार से लिखा गया है। मनुष्य के जीवन में कितने संस्कार होने चाहिए इस पर धर्मशास्त्रकारों में मतभेद है।[277] गौतम ने संस्कारों की संख्या चालीस दी है और वैखानस ने अठारह।[278] इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे शास्त्रकार है जिन्होंने संस्कारों की संख्या तेरह दी है।[279] किन्तु प्रायः सभी धर्मशास्त्रकार संस्कारों की संख्या सोलह मानते हैं[280] - गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि ।

जहाँ तक महापुराण का प्रश्न है, उन्होंने संस्कारों {क्रियाओं} को प्रधानतया तीन वर्गों में विभक्त किया है -

{1} गर्भान्वय क्रिया

{2} दीक्षान्वय क्रिया

{3} क्रियान्वय क्रिया

गर्भान्वय क्रिया :- महापुराण में गर्भान्वय क्रिया के अन्तर्गत् अनेक क्रियाओं का उल्लेख मिलता है जो कि गर्भ से लेकर निर्वाणपर्यन्त है। इसके साथ यह भी वर्णित है कि भव्य पुरुषों को सदा उनका पालन करना चाहिए और द्विजों को विधि के अनुसार इन क्रियाओं को करनी चाहिए।[282] ये क्रियाएँ सम्यग्दर्शन की शुद्धता को धारण करने वाले जीवों की होती हैं।[283]

नामकर्म क्रिया :- सन्तान उत्पन्न होने के बारह दिनों के बाद नाम कर्म क्रिया का विधान है। सन्तान का नाम वंशवर्द्धक होना चाहिए। जैनियों के अनुसार "घटपत्र-विधि" का प्रयोग कर अर्हन्तदेव के 1008 नामों में से कोई नाम [सन्तान का] रखना प्रशस्त माना गया है।[284] आचार्य गुणभद्र के अनुसार नामकर्म क्रिया अन्नप्राशन क्रिया के बाद भी की जा सकती है।[285]

केशवाप क्रिया [चूड़ाकर्म क्रिया] :- केशवाप का अभिप्राय है मुण्डन। किसी शुभ दिन में देव तथा गुरु की पूजा इस क्रिया में अनिवार्य है। सर्वप्रथम शिशु के केशों को सुगन्धित जल से भिगोया जाता है। पूजित हुए अवशिष्ट अक्षत को केशों पर रखने का नियम है। तदन्तर स्वकुल की रीति के अनुसार क्षौर-कर्म किया जाता है। इसी समय शिखा रखने का भी विधान है। मुण्डन होने के बाद शुद्ध जल से बालक को स्नान कराकर उसके शरीर को विविध सुगन्धित द्रव्यों से अनुलिप्त कर अलंकरणों से अलंकृत किया जाता है। सुस्नात, गन्धानुलिप्त तथा समलंकृत शिशु मुनियों एवं सभी को नमस्कार करता है।

उस बालक को भाई- बन्धु आशीर्वाद भी देते हैं। इस क्रिया में पुण्याह-मंगल किया जाता है और यह चौलक्रिया[286] के नाम से प्रसिद्ध है। इस क्रिया में समाकृत लोग सहर्ष प्रवृत्त होते हैं। आदिपुराण भी इसी को मानता है।[287]

उपनीति क्रिया या उपनयन संस्कार :- गुरु के समीप शिष्य को लाना उपनीति अर्थात् गुरु के समीप लाया हुआ शिष्य। महापुराण में वर्णित है कि गर्भ के आठवें वर्ष में बालक की उपनीति (उपनयन) क्रिया होती है। इसमें केश-मुण्डन, व्रतबन्धन तथा मौन्जीबन्धन की क्रियाएँ सम्पादित होती है। बालक को विद्याध्ययन काल में ब्रह्मचर्य का पालन करने का विधान है।[288] इसमें यज्ञोपवीत का भी विधान है। आदिपुराण में भी उक्त मान्यता को स्वीकार किया गया है।[289]

विवाहक्रिया :- विवाह निखिल सामाजिक संस्थाओं का मूलाधार है। स्वाभाविक तथा सार्वजनिक स्थिति के कारण जैन महापुराण ने विवाह को एक महत्त्वपूर्ण कृत्य के रूप में स्वीकार किया है।[290] सामाजिक व्यवस्था को संतुलित बनाने के लिए तथा वंश विस्तारार्थ सन्तानोत्पत्ति को आवश्यक माना गया है। इसीलिए महापुराण में इस बात पर बल दिया गया है कि पुत्रहीन मनुष्य की गति नहीं होती अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। यह कथन वेद विहित है।[291]

दीक्षान्वय क्रिया :- दीक्षाया: अन्वयम् इति तत्पुरुष समास से "दीक्षान्वय" शब्द निर्मित होता है, जिसका तात्पर्य दीक्षा के अनुरूप क्रिया करने से है। इसका सम्बन्ध धार्मिक अभ्युदय से है। इन क्रियाओं के माध्यम से व्यक्ति के

व्यक्तित्व एवं धार्मिकता का विकास होता है और वह श्रावक या मुनि पद प्राप्त करता है। व्रतों का पालन करना दीक्षा है। व्रत के दो भेद हैं - [1] महाव्रत - सभी प्रकार के हिंसादि पापों का त्याग करना महाव्रत है। [2] अणुव्रत - स्थूल हिंसादि दोषों से निवृत्त होने को अणुव्रत कहते हैं। उन व्रतों को ग्रहण करने के लिए सम्मुख पुरुष को जो प्रवृत्ति है, उसे दीक्षा कहते हैं और उस दीक्षा से सम्बन्ध रखने वाली जो क्रियाएँ हैं, वे दीक्षान्वय क्रियाएँ कहलाती हैं[292] जो भव्य मनुष्य इन क्रियाओं को यथार्थतः जानकर पालन करता है, वह सुख के अधीन होता हुआ बहुत शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है।[293]

क्रियान्वय क्रिया :-
------------- महापुराण के अनुसार जैनधर्म के अन्तर्गत उन्हीं प्राणियों का क्रियान्वय क्रिया होने का विधान विहित है, जो संसार में अत्यल्प समय तक रहता है अर्थात् जिस व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त होता है, उसको इन क्रियाओं को करने का विधान है।[294]

मृतक- संस्कार :-
------------ उपर्युक्त कृत्यों के अतिरिक्त मृतक संस्कार का उल्लेख जैन महापुराण में उपलब्ध है, परन्तु इसका समायोजन उक्त निर्धारित तीन वर्गों में न करके पृथक् रखा गया है। इसका मुख्य उद्देश्य यह रहा होगा कि मृतक-संस्कार अशुभ का द्योतक है। ऐसी स्थिति में इसे उनके साथ नहीं रखा गया है।

महापुराण में दो प्रकार की मृत्यु का उल्लेख है : शरीर- मरण [आयु के अन्त में शरीर का त्याग] और संस्कार- मरण [व्रती पुरुषों का पापों का परित्याग][295] शरीर- मरण में ही मृतक- संस्कार की व्यवस्था की गई है। पुष्पदन्त महापुराण में मृत- शरीर को गाड़ने, जलप्रवाह और

अग्नि-दाह का उल्लेख है। समाज के गरीब वर्ग के लोग मृतक के मृतशरीर को जल में प्रवाहित करते थे,[297] परन्तु समाज के सम्पन्न व्यक्ति दाह-संस्कार करते थे।[298] आदिपुराण भी उक्त मत को मानता है। पुष्पदन्त महापुराण में मृतक के अन्तिम संस्कार के स्थल को श्मशान कहा गया है।[299] इसके साथ ही श्मशान के वीभत्स एवं भयंकर दृश्य का वर्णन उपलब्ध है। जैन आगमों में शव को पशुपक्षियों को खाने हेतु खुले स्थान में छोड़ने का उल्लेख है।[300] अन्य स्थल पर शव के गाड़ने का वर्णन मिलता है। पद्मपुराण में वर्णित है कि मृत्यु होने पर मृतक के घर में संगीत, मंगल, उत्सव, पूजन आदि नहीं होते।[301] उक्त पुराण में मृत्युपरान्त लोकाचार के अनुसार क्रियाओं को सम्पादित करने का विधान है।[302] महापुराण में भी इसी तरह की क्रियाओं का वर्णन है। जैन आगमों में मरणोपरान्त नीहरण, व्यंतराधिष्ठित, परिष्ठापन आदि क्रियाओं के करने का उल्लेख है। इसके[303] साथ ही मृतकों के श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन कराने की भी व्यवस्था थी। महापुराण में भी श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन का वर्णन है।

पुरुषार्थ -

प्राचीन काल के भारतीय विचारकों ने मनुष्य के जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक दृष्टि से उन्नत करने के निमित्त "पुरुषार्थ" के नाम से अपने दार्शनिक विचारों की नियोजना की थी। इन विचारकों के मतानुसार जीवन के सुख के दो आधार हैं - एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। भौतिक सुख के अन्तर्गत सांसारिक आकर्षण और ऐश्वर्य प्रधान माना गया तथा आध्यात्मिक सुख के अन्तर्गत त्याग और तपस्या। भौतिक अथवा लौकिक सुख के अन्तर्गत अर्थ और काम है तथा आध्यात्मिक या पार-

लौकिक सुख के अन्तर्गत् धर्म और मोक्ष। पुरुषार्थ में भौतिक और आध्यात्मिक दोनों तत्व निहित है। इसके अन्तर्गत् मनुष्य लौकिक उपभोग के साथ धर्म का अनुसरण करते हुए ईश्वरोन्मुख होकर मोक्ष को प्राप्त करता है क्योंकि हिन्दू दार्शनिकों के अनुसार जीवन और मृत्यु से छुटकारा पाना और ईश्वर के समीप पहुँचना ही मोक्ष है। महापुराण में भी चारों पुरुषार्थों का वर्णन किया गया है।[304] जीवन में चार पुरुषार्थ बताये गये हैं, उनमें से प्रथम तीन- धर्म, अर्थ और काम- त्रिवर्ग ही साधक या साधक हैं।[305] चतुर्थ [मोक्ष] पुरुषार्थ साध्य है। त्रिवर्ग के सम्पन्न होने से चतुर्थ स्वतः पूर्ण हो जाता है। महापुराण में यह वर्णित है कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूप मार्ग, मोक्ष रूप इसका फल तथा धर्म, अर्थ एवं काम रूप विस्तार का वर्णन है।[306] जीवन के विधेय कर्त्तव्यों का निर्णय ही पुरुषार्थों के वर्णन प्रसंग में सर्वत्र आया है।

धर्म :-

महापुराण में धर्म का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि इस संसार में कुछ भी सारपूर्ण नहीं है, एक धर्म ही सारपूर्ण है, जो सब प्राणियों का महाबन्धु है।[307] धर्म ही महाहितकारी है, महापुराण ने धर्म को एक वृक्ष कहा है, अर्थ इसका फल है और काम उसके फलों का रस है।[308] प्रस्तुत महापुराण में धर्म को सब प्रकार से रक्षा करने पर बल दिया गया है, धर्म की रक्षा होने पर इससे चर और अचर जगत की रक्षा हो जाती है।[309] इसी पुराण में अन्य प्रसंग में वर्णित है कि धर्म ही पापों से रक्षक, मनोवांछित फलदायक, परलोक में कल्याणकारी एवं इहलोक में आनन्ददायक है।[310] उक्त तथ्यों की पुष्टि पद्मपुराण से भी हो जाती है जिसमें वर्णित है कि "धरतीति धर्मः" अर्थात् जो धारण करे, वह धर्म है।[311] महापुराण में उल्लिखित है कि जो शिष्यों को कुगति से पृथक् कर उत्तम

स्थान में पहुँचा दे, सत्पुरुष उसे ही धर्म कहते हैं। धर्म के मुख्य चार भेद वर्णित हैं - सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य तथा सम्यक् तत्व।[312] महापुराण में अहिंसा को धर्म का लक्षण कथित है।[313]

अर्थ :-

महापुराण में धर्ममूलक अर्थवृत्ति पर विशेष बल दिया गया है। महाराज भरत को आयुधशाला में चक्ररत्न की प्राप्ति हुई थी, जो अर्थ पुरुषार्थ का फल है।[314] पद्मपुराण में उल्लिखित है कि इस संसार में द्रव्य आदि के लोभ से भाई आदि में वैरभाव उत्पन्न हो जाता है। इसका मूल कारण योनि सम्बन्ध न होकर अर्थ है।[315] जैनधर्म निवृत्तिमूलक होते हुए भी सांसारिक जीवन के लिए प्रवृत्त को स्वीकार करता है। इसीलिए उसने अर्जन, रक्षण, वर्धन तथा व्यय इन चार उपायों से धन संचय करने को कहा है।[316] अतः स्पष्ट हो जाता है कि जैन महापुराण अर्थ पुरुषार्थ में न्यायपूर्वक अर्थ संचय को महत्व देता है।

काम :-

धर्म एवं अर्थ के उपरान्त काम पुरुषार्थ का क्रम आता है। यद्यपि जैनी धर्म में ब्रह्मचर्य व्रत पर विशेष बल दिया गया है तथापि सामाजिक जीवन के लिए काम पुरुषार्थ को स्वीकार किया है। महापुराण में उल्लिखित है कि इन्द्रियों के विषय में अनुरागी मनुष्यों को जो मानसिक तृप्ति होती है, उसे काम कहते हैं।[317] इसकी पुष्टि आदिपुराण से भी होती है।[318] जिस प्रकार कोई रोगी पुरुष कटु औषधि का सेवन करता है, उसी प्रकार काम ज्वर से संतप्त पुरुष स्त्री रूप औषधि का सेवन करता है।[319] कामातुर की स्थिति का वर्णन करते हुए पद्मपुराण में भी उल्लिखित है कि सूर्य शरीर के

बाहरी चमड़े को जलाता है। इतने[320] पर भी सूर्य अस्त हो जाता है, परंतु काम कभी अस्त नहीं होता है। इसीलिए काम से ग्रसित मनुष्य न सुनता है, न सूँघता है, न देखता है, न अन्य का स्पर्श जानता है, न डरता है और न लज्जित होता है।[321] वस्तुत: काम सेवन से कभी सन्तोष नहीं होता है। महापुराण के अनुसार[322] कामी व्यक्ति अपनी बहन आदि का भी विवेक नहीं रख पाता है।

मोक्ष :-

महापुराण में उल्लिखित है कि धर्म, अर्थ एवं काम के सम्यक् निर्वाह से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही जीवन का लक्ष्य होता है। विषयभोग में लिप्त रहने से विनाश होता है, इसीलिए इसका त्याग करना चाहिए।[323] इसी पुराण में वर्णित है कि अर्थ और काम से संसार की वृद्धि होने से सुख नहीं मिलता। धर्म में भी पाप की सम्भावना से सुख नहीं है, पापरहित मुनिधर्म श्रेष्ठ है। इसी से सुख प्राप्ति होती है और मोक्ष मिलता है।[324] उक्त तथ्यों की पुष्टि हरिवंशपुराण से भी होती है।[325] महापुराण में वर्णित है कि जिससे जीवों के स्वर्ग आदि का अभ्युदय तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है वही धर्म है अर्थात् धर्म से ही मोक्ष मिलता है।[326]

उपर्युक्त तथ्यों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि ये चारों पुरुषार्थ पृथक्- पृथक् हैं, तथापि इन सबका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । महापुराण द्वारा इनमें आपस में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। सम्यक रूप से त्रिवर्ग [धर्म, अर्थ एवं काम] की उपलब्धि पर

मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसीलिए हमारे आचार्यों ने त्रिवर्ग में पहले सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। {त्रिवर्ग- धर्म, अर्थ एवं काम} की प्राप्ति से सभी मनोरथ उपलब्ध होते हैं।[327] इस प्रकार धर्म से पुण्य, पुण्य से अर्थ और अर्थ से काम अभिलषित भोगों की प्राप्ति होती है। पुण्य के बिना अर्थ और काम नहीं मिल सकते हैं।[328] धर्म से ही अर्थ, काम एवं स्वर्ग की प्राप्ति होती है। धर्म ही काम तथा अर्थ की उत्पत्ति स्थान है।[329] महापुराण में वर्णित है कि ऋषभदेव को केवल ज्ञान उत्पन्न होना धर्म है, पुत्र प्राप्ति काम का फल है और चक्र का प्रकट होना अर्थ फल की प्राप्ति है।[330] ये त्रिवर्ग पुरुषार्थ उनको प्राप्त हुए थे। महापुराण के अनुसार उक्त पुरुषार्थों को सज्जन अनुकूल मानते हैं और दुर्जन उनकी निन्दा करते हुए उनको प्रतिकूल मानते हैं।[331] परन्तु इन पुरुषार्थों से लोगों का वैयक्तिक जीवन निखरता है जिससे समाज का कल्याण होता है। हमारे जीवन के लिए पुरुषार्थ बहुत ही उपयोगी है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1- चार्ल्स हार्टनकूले - सोशल आर्गेनाइजेशन, पृ0 25- 35

2- महा0 2/ 8

3- वही, 2/ 14

4- वही, 2/ 9

5- आदि0 2/ 39

6- पद्म0 3/ 61

7- महा0 2/ 9- 10

8- वही, 2/ 11-12

9- आदि0 3/ 211- 212, पद्म0 3/ 30- 30, हरिवंश 7/ 105- 107

10- हरिवंश 7/ 166

11- महा0 3/ 63-163, 3/ 210, आदि0 1/ 124- 128

12- वही, 2/ 10

13- वही, 3/ 191-209, भागचन्द्र भास्कर - जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ0- 5

14- गोकुलचन्द्र जैन - यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 59

15- महा0 5/ 10

16- वही, 5/ 9

17- वही, 3/ 256- 258, हरिवंश 9/ 39

18- महा0 16/ 138

19- ऋग्वेद 10/ 90/ 12, महाभारत, श्लोक 5- 6, मनुस्मृति 1/ 31, एस0 एन0 राय - पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ0- 152, देवीप्रसाद मिश्र - जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 34

20- महा० 16/ 243- 246, पद्म० 5/ 104

21- वही, 5/ 20/ 4

22- उत्तराध्ययन सूत्र 25/ 33

23- नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां । - महा० 74/ 492

24- वही, 16/ 137

25- आर० जी० बसाक - हिस्ट्री आफ नार्थ इस्टर्न इण्डिया, 1934, पृ०- 314

26- ब्रह्मसूत्र - शांकरभाष्यम, पृ०- 273

27- दशकुमारचरित, पृ०- 160

28- मन्दसोर स्तम्भलेख [फ्लीट - सी० आई० आई० भाग - 3, पृ०-145] 1/ 31, जी० आर० शर्मा - एक्सवेशन्स ऐट कौशाम्बी, 59, पृ०-46, 54, देवी भागवत 4/ 8/ 31, खोह ताम्रपत्र अभिलेख [गु० सं० 209] महाराज संक्षोभ [फ्लीट - सी० आई० आई०, भाग- 3, सं० 25], 1/ 10

29- क्लेकान आफ प्राकृत ऐण्ड इण्डियन नं०- 5, पृ०- 50

30- एपीग्राफिया इण्डिका, भाग- 15, पृ०- 3

31- वही, भाग- 2, पृ०- 192

32- दशकुमारचरित, काले संस्करण, पृ०- 188

33- कथाकोष प्रकरण, पृ०- 120

34- के० पी० जैन - जैन एण्टीक्वटी, भाग- 13, 1947, अंक- 1

35- गोकुलचन्द्र जैन - वही, पृ०- 50

36- महा० 38/ 47

37- वही, 5/ 9

38- आदि० 39/ 139

39- महा० 40/175- 176

40- पद्म० 109/82, 4/115-120

41- महा० 7/8

42- आदि० 39/ 133

43- महा० 16/ 246

44- देवीप्रसाद मिश्र - जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ०-42

45- आसीत्सवरको नाम्ना ग्रामेऽत्रैव कृषीबल: ।
विप्र: प्रकृष्य स क्षेत्रं महावर्षानिलार्दित: ।।
- हरिवंश 43/116

46- उद्धृत - कृत्यकल्पतरू के गृहस्थकाण्ड, पृ०-191

47- पाराशरपस्मृति, आचारकाण्ड, 2/1

48- बृहत्पराशर संहिता 1/4

49- तै: सहितो विप्र: शुश्रूषकै: शूद्र: कृषिं कारयेत् ।
पराशरस्मृति पर माधवाचार्य की टीका, आचारकाण्ड 2/2

50- पद्म० 11/202, हरिवंश 9/38, महा० 44/30

51- महा० 5/9

52- आदि० 42/15

53- डेरेट - जे० इ० एस० एच० ओ०, भाग-7, 1964, पृ०-74.

54- यादव - सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, पृ०-32

55- महा० 5/9

56- आदि० 44/30, पद्म० 3/56

57- महा० 42/4

58- वही, 42/13

59- वही, 5/10

60- आदि० 47/215

61- पद्म० 55/61, हरिवंश 21/78-80, महा० 70/150

62- बी० एन० एस० यादव - सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, पृ०- 39.

63- महा० 16/134, हरिवंश 9/39

64- पद्म० 3/257

65- बी० एन० एस० यादव - सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, पृ०- 38, देवीप्रसाद मिश्र - जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ०-46

66- कैलाशचन्द्र जैन - प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, भोपाल, 1971, पृ०- 41.

67- महा० 5/10

68- पद्म० 3/28, हरिवंश 9/39, मनुस्मृति 101

69- महा० 16/135

70- पद्म० 3/253

71- महा० 16/135-136

72- वही, 5/20

73- वही, 17/10

74- वही, 5/20, याज्ञवल्क्य 2/249, मनुस्मृति 5/128, 10/12

75- आर० एस० शर्मा - शूद्राज इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पृ०- 282.

76- प्रेम सुमन जैन - कुवलयमाला कथा का सांस्कृतिक अध्ययन, वैशाली, 1975, पृ०-107.

77- कैलाशचन्द्र - वही, पृ0-4, देवीप्रसाद मिश्र - जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 47.

78- महा0 32/75

79- वही, 39/ 168

80- महा0 7/7

81- वही, 16/161

82- महा0 5/90

83- वही, 5/20

84- वही, 42/138.

85- वही, 17/10

86- वही, 17/167

87- वही, 16/185

88- वही, 5/9

89- आदि0 39/151-152

90- पद्म0 5/196

91- आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/9/21/1, गौतमधर्मसूत्र 312, वशिष्टधर्मसूत्र 7/1-2, पी0 वी0 काणे - हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग-2, खण्ड-1, पृ0-417-418.

92- प्रभु - वही, पृ0- 78.

93- द्रष्टव्य, काणे - वही, पृ0- 418

94- द्रष्टव्य, रानाडे - ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासिफी, पृ0- 60-61, प्रभु - हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ0- 84, राजबली पाण्डेय - हिन्दू संस्कारास, पृ0- 262

95- महा0 5/9.

96- वही, 39/94-95

97- वही, 33/ 115-117

98- वही, 38/ 117-120

99- महा० 33/122

100- वही, 33/123

101- पद्म० 4/50

102- हरिवंश, 42/5-6

103- महा० 38/124, 125, 127, वही, 38/123

104- मनुस्मृति 6/89-90, विष्णुधर्मसूत्र 59/27-29, बौधायन धर्मसूत्र, 2/2/1

105- हरिवंश, 18/51

106- महा० 8/6-8

107- वही, 39/103-107

108- वही, 38/147

109- वही, 41/104, हरिवंश 10/8

110- वही, 10/165, पद्म० 14/108

111- वही, 10/159-160

112- वही, 33/ 17-19

113- वही, 3[illegible]/[illegible]

114- महा० 10/162

115- पद्म० 14/133, हरिवंश 13/45, 58/143

116- महा० 10/163, हरिवंश 10/7

117- हरिवंश 15/6

118- ऋग्वेद, 9/66, तैत्तिरीयारण्यक 1/23, गौतम धर्मसूत्र 3/2, बौधायन धर्मसूत्र 3/6/19

119- महा0 39/155

120- वही, 39/156

121- पद्म0 100/86

122- महा0 39/199

123- वही, 39/157

124- वही, 39/153

125- वही, 39/162-165

126- वही, 11/97

127- वही, 11/98

128- वही, 11/100-102

129- वही, 63/228

130- वही, 65/9

131- वही, 63/336-337

132- किज्जइ विवाहु कुमार तुह जेण पवड्ढइ लोमगइ ।।
- महा0 4/6/16

133- महा0 65/78

134- नीतिवाक्यामृत विवाह समुद्देश सूत्र- 3

135- महा0 65/79

136- वही, 15/62-64

137- गायत्री वर्मा - कालिदास के ग्रन्थ - तत्कालीन संस्कृति, वाराणसी 1963, पृ0- 31

138- एस0 एन0 राय - पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद-1968, पृ0- 222

139- आश्वलायनगृह्यसूत्र 1/6, बौधायन धर्मसूत्र 1/11, गौतम 4/6-13, याज्ञवल्क्य 1/56-61, कौटिल्य 3/1/5, मनु0 3/21

140- जगदीशचन्द्र जैन - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, 1965, पृ0- 253

141- पी0 थामस - इण्डियन वोमेन थ्रू द एजेज, लन्दन 1954, पृ0-107

142- महा0 4/8/13, 4/93

143- वही, 24/1/9, 24/13/15

144- वही, 25/1/11-12

145- वही, 51/14/1, 51/15/7

146- पद्म0 15/25-26

147- महा0 34/0/2

148- वही, 99/5/1-6

149- आदि0 45/34, पद्म0 10/10

150- महा0 99/9/4-10

151- वही, 101/14/20-22

152- पद्म0 3/78-30

153- पद्म0 10/6, हरिवंश 21/26

154- महा0 45/54, पाण्डव 3/147

155- वही, 44/32

156- वही, 43/196

157- क्लरिसे बदेर - वोमेन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, लंदन, 1925, पृ0-31

158- महा0 63/8

159- पद्म0 110/2

160- महा० 43/52-273, 63/3 तुलनीय - ज्ञाताधर्मकथा 16, पृ०-
176- 182, बृहत्कल्पभाष्य 2/3446, गौतमधर्मसूत्र 4/10,
मनु० 3/32

161- पद्म० 6/70, 56/91

162- महा० 23/12/3, 28/21/4

163- वही, 33/21/6, 83/22/15

164- वही, 92/3/2 , 29/9/8

165- वही, 33/13/3, 33/21/2

166- वही, 62/ 82

167- ऋग्वेद 10/27/22, भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं कृणुते
जनेइत ।

168- रामायण 1/ 66/ 67

169- महाभारत 1/ 112

170- वही, 54/ 3-9

171 - धम्मपद टीका, पृ०- 273-79

172- रघुवंश 6/7

173- विक्रमांकदेवचरित, सर्ग 9,139, 143

174- पृथ्वीराजरासो, सर्ग-7, श्लोक 74-79

175- गौ० ध० सू० 13/ 20 , विष्णुधर्मसूत्र 25/ 40-41, मनु० 9/10,
याज्ञ० 1/ 64, अप्रयच्छन समाप्नोति भ्रूणहत्याभृतावृतौ ।
गम्यन्त्व भावेदातृणां कन्या कुर्यात् स्वयम्बरम् ।।

176- मनु0 3/ 33, हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ।।

177- महाभारत 1/121/21-23, 1/6/4/22

178- पी० थामस, वही, पृ0- 108

179- महा० 32/183, 68/600, हरिवंश 42/96, 44/23-24

180- वही, 65/14/13 , 65/15/7

181- वही, 69/16/11 , 69/21/4

182- वही, 90/9/15 , 90/10/11

183- ऋग्वेद 1/ 116

184- महाभारत 1/ 64/ 22

185- वही, 1/ 245- 6, विष्णुपुराण 5/ 26/11-

निर्जित्य रुक्मिणं सम्यगुपयेमे च रुक्मिणीम् ।
राक्षसेन विवाहेन सम्प्राप्तां मधुसूदनः ।।

186- महाभारत 1/ 245-6

187- जातक 1, पृ0- 297, पृ0- 425- 26

188- श0 ब्रा0 4/1/5, 13/2/9/3, बृहद्देवता 5/ 50

189- गौ0 ध0 सू0 4/1, गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्वां यवीयसीम्।

190-अ- नारद0 स्त्रीपुंस, 4, या0 1/55, मनु0 3/12

-ब- मत्स्यपुराण 30/ 13

191- जातक 1, पृ0- 199, 437, 2, पृ0- 299,3, पृ0-422

192- महा0 16/ 247

193- श0 ब्रा0 4/1/ 5

194- ऋग्वेद 5/61/17-19

195- मत्स्यपुराण 46/ 20, वैश्यायामदधाच्छौरिः पुत्रं कौशिकमग्रजम् ।

196- वही, 48/62, वायुपुराण 99/70, ब्रह्माण्डपुराण 3/74/71

197- महाभारत 13/53/17

198- वही, 3/ 94-97

199- याज्ञ0 1/33, मनु0 9/35-36

200- कात्या0 8/6, व्यास 2/11-12, वि0 स्मृ0 26/1/3

201- अथर्ववेद, 4/17/3/9

202- मिता0 1/4, याज्ञ0 4/91-92, शंखस्मृति 4/6-7

203- मालविकाग्निमित्र, प्रथम अंक,।

204- फ्लोट, कार्पस इन्स्क्रिप्शनम इंडिकेरम, 3, पृ0- 152-64

205- आर्केयोलाजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इंडिया, खण्ड-4, पृ0- 140

सोमस्ततः सोम इव परोऽभूत्सु ब्राह्मणः क्षत्रियवंशजासु ।

श्रुतिस्मृतिभ्यां विहिताधिकारो द्वयोसु भार्यासु मनोदधार ।।

206- एपि0 इं0 खण्ड- 8, पृ0- 24

207- हर्षचरित,।

208- काव्यमीमांसा 1/11

209- राजतरंगिणी 7/11/12

210- कथासरित्सागर 35/171

211- जयशंकर मिश्र - ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0- 141

212- वही, पृ0- 143

213- मिताक्षरा, याज्ञ01/4, विश्वरूप याज्ञ0 2/120, मेधातिथि- मनु0 3/14

214- राधाकृष्णन् - रिलिजन ऐण्ड सोसाइटी, पृ0- 173

215- याज्ञ0 1/88, मनु0 9/85-86

216- जगदीश चन्द्र जैन - वही, पृ0- 265-266, पद्म0 3/373, 65/31, हरिवंश 33/21, 9/18, महा0 65/14/14-65, 65/15/8, 82/16/4, 92/14/6-7 आदि तुलनीय चकलदार सोशल लाइफ इन ऐंशेण्ट इण्डिया - स्टडीज इन वात्स्या-

217- बौधायनधर्मसूत्र, 1/19- 26, आपस्तम्बधर्मसूत्र, 1/ 7/ 21/ 3

218- आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/5/11/6, मनु0 11/ 172- 173

219- स्वमातुल सुतां प्राप्य दक्षिणात्यस्ते तुष्यति ।
अन्ये तु सव्यलोकेन मनसा तन्न कुर्वते ।। - तन्त्रवार्त्तिक, पृ0-204

220- बृहस्पति0, 25/11, अपरार्क 7/ 40, कृत्यकल्पतरु, व्यवहारकांड, पृ0 634.

221- महाभारत, आदि0 74/ 40

222- ऋग्वेद, 10/ 85/ 46, अथर्ववेद 14/ 2/ 6

223- आ0 ध0 सू0 2/5/12

224- नारद (स्त्री पुंस0), 95

225- विष्णुपुराण , 4/12/ 13/ 14, रामायण 9/97/7

226- नारद (स्त्री पुंस0), 95

227- स्वप्नवासवदत्तं, अंक - 3

228- बहुवल्लभाः राजानः श्रूयन्ते । अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक - 3

229- ऋग्वेद, 10/ 145, 159

230- द बुक अव ग्रेजुअल सेइंग्स, 1, पृ0- 120, मज्झिमनिकाय, 2/4/2

231- जातक, 2, पृ0-138, देखिए बब्रू जातक, सूहक जातक आदि, जातक, 1, पृ0- 231

232- शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वाचाग्रजन्मनः ।। - मनु0 3/13

233- रामायण, 2/ 20/ 38- 55

234- कादम्बरी, पृ0- 206

235- शिशुपालवध, 2/194, 316, 7/ 59

236- ऋग्वेद, 10/ 85/ 26, शतपथब्राह्मण 13/ 4/ 10, महाभारत, आदिपर्व 160/ 36, विष्णुपुराण 1/15/ 103- 105, वायुपुराण 63/ 40-42, ब्राह्मणपुराण 2/37/42-44, मत्स्यपुराण 5/10-12

237- महा0 15/ 69, 68/ 169

238- वही, 37/ 34- 36

239- पद्म0 58/ 69, 94/ 17- 18

240- बी0 एन0 एस0 यादव, वही, पृ0- 68- 69

241- ऋग्वेद, 10/ 84/ 9

242- कुमारसम्भव, 7/85

243- वही, 77

244- प्रीतिप्रभा गोयल - हिन्दू विवाह मीमांसा, बौन्दा, 1975, पृ0- 93- 105, कृष्णदेव उपाध्याय - हिन्दू विवाह की उत्पत्ति और विकास, वाराणसी, 1974, पृ0- 121, शकुन्तला राव शास्त्री- वोमेन इन द सेक्रेड लाज, पृ0- 175.

245- पिण्डनिर्युक्ति टीका, 509

246- यादव - वही, पृ0- 70

247- गृहस्थ रत्नाकर, 3/ 7

248- मनुस्मृति, 3/7

249- विष्णुपुराण 3/12/22, 4/1/92, 1/15/64, वायुपुराण 54/112, 107/4- 5, मत्स्यपुराण 154/ 415, 227/18

250- महा0 43/ 191

251- पद्म0 104/ 14, 8/9, महा0 62/64, 43/186, पाण्डव 4/24.

252- महा0 67/221, पद्म0 6/ 41, तुलनीय - यम {स्मृतिचन्द्रिका-1, पृ0- 78} आपस्तम्बगृह्यसूत्र 3/20, बृहत्पराशर {सम्पादित जीवानंद}, पृ0- 118

253- पद्म0 17/ 53, 6/ 42, तुलनीय - शतपथब्राह्मण 1/2/5/16, भारद्वाजगृह्यसूत्र 1/ 11, मानवगृह्यसूत्र 1/7/6-7, लौगाक्षिगृह-सूत्र 15/ 4-7, गौतम 4/ 1, मनु0 3/ 4,10 वायुपुराण 33/ 7, विष्णुपुराण 3/10/16-24, मत्स्यपुराण 227/ 15

254- महा0 68/ 165

255- ज्ञाताधर्म 1/ 1, भगवतीशतक 11/11

256- आश्वलायनगृह्यसूत्र, 1/ 5/3

257- पद्म0 38/ 9-10, 10/ 11, महा0 45/ 3-4,

258- महा0 8/36, पाण्डव 8/ 67, तुलनीय - उत्तराध्ययनटीका 4, पृ0- 38, उपासकदशा 4, पृ0- 61, रामायण 1/ 74- 4

259- महा0 4/ 9/ 8-4/10/7, 24/12/9-13, 51/ 15/ 1-3

260- वही, 7/ 221, तुलनीय ज्ञाताधर्मकथा 1/1, भगवतीशतक 11/11, निशीथचूर्णी 3/1636

261- धनिराम जैन - संस्कृति और विवाह, श्रमण, वर्ष-13, अंक - 4, फरवरी 1962, पृ0- 17-18

262- महा0 4/10/8, 51/ 15/ 4, तुलनीय उत्तराध्ययनसूत्र 22/9-10·

263- वही, 24/ 13/ 12-13

264- वही, 24/ 13/ 15, पाण्डव 3/ 220

265- पद्म0 8/ 80

266- महा0 6/ 271

267- वही, 33/ 131

268- बौधायन धर्मसूत्र, 1/5/15-17, आपस्तम्बधर्मसूत्र 3/3-10

269- पद्म0 6/56

270- महा0 98/15/ 14-15

271- वही, 93/ 15/ 17

272- काणे पी0 वी0 - हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग-2, खण्ड-1, पृ0- 190, राजबली पाण्डेय - हिन्दू संस्कार, पृ0- 17-18

273- महा0 39/ 25

274- वही, 39/ 119-121

275- वही, 39/ 122

276- वही, 39/ 208- 211

277- गौतमधर्मसूत्र, 1/ 822 इत्येते चत्वारिंशत्संस्कारा: ।

278- वैखानसधर्मसूत्र

279- पा0 गृ0 सूत्र

280- काणे , वही, पृ0- 193- 194, राजबली पाण्डेय, वही, पृ0- 26

281- महा0 38/ 47

282- वही, 38/ 310- 311

283- वही, 63/ 303

284- वही, 38/ 87-39, तुलनीय आपस्तम्बगृह्यसूत्र 15/ 8-11, आश्वलायनगृह्यसूत्र 1/15/ 4-10, विष्णुपुराण 3/10/ 3, ज्ञातव्य है कि "घटपत्रविधि" आधुनिक युग में प्रचलित लाटरी के समान रही होगी।

285- महा0 5/4/3

286- वही, 5/ 4/ 3

287- वही, 38/ 98/ 101 तुलनीय आश्वलायनगृह्यसूत्र 17/ 1-18, आपस्तम्बगृह्यसूत्र 16/ 3- 18, मनु0 2/ 35

288- महा0 5/ 9

289- वही, 40/ 160- 164, तुलनीय आश्वलायनगृह्यसूत्र 1/22/ 7-8 एवं 17, बौधायनगृह्यसूत्र 2/5/43-45, मनु० 2/ 108, गौतम 2/ 17; कौशीतकिगृह्यसूत्र 1/22/ 6-7

290- महा० 4/ 6

291- वही, 65/ 79

292- वही, 39/ 3- 5

293- वही, 39/ 1-2, 63/ 304

294- वही, 39/ 31

295- वही, 39/ 122

296- वही, 59/ 58, 68/ 703

297- वही, 78/ 25/ 6, 73/ 26/ 9

298- पद्म० 78/2, 8, 118/ 123, हरिवंश 63/ 56, 72, महा० 75/ 227

299- वही, 109/ 93 - 95, महा० 75/ 227

300- महानिशीथ, पृ०- 25

301- पद्म०, 116/ 40- 42

302- लोकाचारानुकूलत्वाच्चक्रे प्रेतक्रियाविधिम्। पद्म० 49/ 9 , तुलनीय विपाकसूत्र- 2, पृ०- 24

303- जगदीश चन्द्र जैन - प्राचीन जैन साहित्य में मृतक कर्म, आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, पृ०- 232- 234

304- महा० 2/ 4

305- पद्म० 27/ 23

306- महा0 2/ 120

307- वही, 2/ 31 - 40

308- वही, 2/ 31, 32, 33

309- वही, 40/ 198

310- वही, 42/ 116

311- पद्म0 14/ 103- 105

312- महा0 47/ 302- 303

313- वही, 41/ 52

314- वही, 24/ 3, 24/ 6

315- पद्म0 53/ 68

316- महा0 51/ 7

317- वही, 4/ 7

318- वही, 51/ 6

319- वही, 11/ 166

320- पद्म0, 28/ 45

321- वही, 39/ 208, महा0 7/ 167

322- पद्म0 39/ 170

323- महा0 8/61- 78

324- वही, 51/ 10-11

325- हरिवंश, 13/ 51

326- महा0, 1/ 120

327- हरिवंश, 9/ 34, 17/1, महा0 51/ 3, 53/ 5

328- महा0 48/ 7

329- वही, 2/ 31

330- वही, 24/ 6

331- वही, 44/ 334

तृतीय - अध्याय

सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति

सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति

सामाजिक जीवन की दृष्टि से जैन महापुराण में अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। एक ओर इस सामग्री से मानव- सभ्यता के विकास के विषय में जानकारी परम्परागत वर्णन के रूप में प्राप्त होती है, दूसरी ओर मानव- सभ्यता और सामाजिक जीवन के विकास के अ विभिन्न चरणों का स्पष्टत: ज्ञान प्राप्त होता है।

खान- पान, परिधान एवं अलंकरण -

पुष्पदन्त का महापुराण अहिंसा प्रधान जैन संस्कृति की पृष्ठभूमि पर प्रणीत है। इसलिए महापुराण में खान- पान की शुद्धता एवं सात्त्विकता पर विशेष बल दिया गया है। खानपान शरीर के सम्पोषणार्थ अपेक्षित है, किन्तु इसके लिए भक्ष्याभक्ष्य का विवेक अनिवार्य है । महापुराण में शाकाहार पर विशेष रूप से बल दिया गया है। यही कारण है कि जहाँ भी मांसाहार के उल्लेख हैं, वहाँ उसे सामाजिक एवं धार्मिक दोनों ही ष्टियां से गर्हित बताया गया है।

1- खानपान के नियम निर्देश :-

महापुराण में दस प्रकार के भोगों- भाजन, भोजन, शय्या, सेवा, वाहन, आसन, निधि, रत्न, नगर एवं नाट्य का वर्णन उपलब्ध है[1]। महापुराण में आहार- पदार्थों को शुद्ध माना गया है[2]। आहार विषयक नियम यह था स्नानांतर उच्चासन पर बैठकर भोजन ग्रहण करना चाहिए[3]। जैनेतर ग्रन्थों में अति प्रात:, अर्द्धरात्रि एवं सन्ध्याकाल में आहार ग्रहण करना वर्जित है[4]।

2- खानपान के स्वरूप एवं प्रकार :- महापुराण में चार प्रकार के आहार वर्णित हैं - असन, पानक, खाद्य और स्वाद्य[5] पद्मपुराण में भी "भोज्य पदार्थों के पाँच प्रकार वर्णित हैं - भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य तथा चोष्य आदि।[6] असन के अन्तर्गत भात, दाल, रोटी आदि आते हैं। पानक के अन्तर्गत दूध तथा जल आदि पेय पदार्थ आते हैं। स्वाद्य के अन्तर्गत पान- सुपारी आदि स्वाद वाले पदार्थ आते हैं।

स्वाद्य के अन्तर्गत लड्डू आदि पदार्थ परिगणित हैं।

महापुराण में रस को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। कटु (कड़वा), अम्ल (खट्टा), तिक्त (तीखा या चटपटा), मधुर (मीठा), कषाय (कसैला) एवं लवण (खारा) आदि षट्रसों का उल्लेख है।[7]

3- निषिद्ध आहार :- महापुराण में कतिपय आहारों के निषेध का वर्णन है। जैन शास्त्रानुसार शंकित, अभिहित, उद्दिष्ट एवं कृमि- कीट आदि प्रकार के आहारों का किसी भी स्थिति में न ग्रहण करने का विधान है।[8] महापुराण में मांसाहारी व्यक्ति को सर्वघाती सम्बोधित कर मांसाहार का निषेध किया गया है। इसी प्रकार का उल्लेख अन्य स्थल पर आया है कि रक्तपान और मांसाहार से मनुष्य अधोमुख होकर नरकगामी होता है।[9] आर्यपुरूषों के मद्यपान का निषेध महापुराण में उपलब्ध है।[10] पशुमांस अनुपलब्ध होने पर महामांस [illegible] (नरमांस) के भक्षण का उल्लेख पद्मपुराण में प्राप्य है।[11] महापुराण के अनुसार मसालायुक्त कड़वी तुमड़ी का आहार ग्रहण करने से मृत्यु होने का उल्लेख है, अर्थात् कड़वी तुमड़ी विषैली होती है।[12]

4 - भोजन निर्माण कला :- प[illegible] में सुगन्धित भोजन निर्माण कला के अंग- [illegible]द्रव्य, अधिष्ठान, रस, वीर्य, कल्पना, परिकर्म, गुण-दोष तथा कौशल आदि का वर्णन है।[13]

5- भोजन सामग्री या खाद्यान्न :- महापुराण में जिस भोजन सामग्री का उल्लेख आया है, उसे हम निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं -

(1) अन्न भोजन ,

(2) पक्वान्न भोजन,

(3) फल भोजन ।

1- अन्न भोजन :- महापुराण की दृष्टि में अन्न भोजन का विशेष महत्व है। इसमें कई प्रकार के चावलों एवं अन्य अन्नों का निर्देश आया है ।

नीवार[14]- यह वन में स्वत: उत्पन्न होने वाला निकृष्ट प्रकार का चावल है। इसे आधुनिक काल में तिन्नी का चावल कहते हैं ।

अक्षत[15] - अखण्ड चावल को अक्षत कहते हैं ।

व्रीहि[16] - शीत ऋतु में उत्पादित चावल को व्रीहि कहा गया है। प्राचीन भारत में यह अत्यधिक प्रसिद्ध था।

तण्डुल[17]: - यह छिलका पृथक् किया हुआ चावल है।

शालि[18]: - इसकी पौध लगाकर रोपाई करते हैं। यह हेमन्त ऋतु में पककर तैयार होता है ।

कलम[19]:- यह चावल पतला सुगन्धित एवं स्वादिष्ट होता है।

सावाँ[20] :- यह वर्षा ऋतु में बोकर उगाया जाने वाला निर्धनों एवं ऋषियों का खाद्यान्न है।

साठी[21] :- यह चावल वर्षा ऋतु में साठ दिन में पककर तैयार हो जाता है।

श्यामक[22]:- यह विशिष्ट प्रकार का धान्य है। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल में इसका उल्लेख किया है।

कोदो (कोद्रव)[23]:- यह सावा जाति का मोटा चावल है। इसका प्रयोग प्राय: निर्धन व्यक्ति ही करते हैं ।

यव:[24] - प्रारम्भ में इसका प्रयोग सामान्य अन्न के लिए किया जाता है था किन्तु बाद में यह जौ के लिए गया है। मांगलिक अवसरों पर इसका प्रयोग होता है।

गोधूम:[25] उत्तरी भारत का प्रमुख खाद्यान्न है। पश्चिमी भारत में इसकी अत्यधिक उपज होती है।

राजमाष[26]: यह एक विशेष प्रकार की उड़द है। दाल की दृष्टि से यह उत्तम अन्न है।

आढ़की[27]: यह अरहर के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सर्वसाधारण में दाल के रूप में इसका प्रयोग होता है।

मुदग:[28] इसे मूँग कहते हैं। यह सम्पूर्ण भारत में उपलब्ध दाल है ।

मसूर[29]: इसकी परिगणना दलहनों में होती है। मनुष्य इसका उपयोग भी करते हैं, साथ ही पशुओं को भी खाने के लिए दिया जाता है।

तिल[30]: महापुराण में तिल का उल्लेख साठी चावल, कलम, नीवार के साथ हुआ है। जैनेतर वायुपुराण में भी ब्रीहि, यव, गोधूम के साथ तिल का वर्णन उपलब्ध[31] है। माष:[32] उड़द का अन्य नाम माष है। महापुराण में इसका वर्णन खाद्यान्नों के साथ हुआ है। पद्मपुराण में भी इसका उल्लेख है।[33]

चना:[34] महापुराण में चना के लिए चना शब्द प्रयुक्त हुआ है।

निष्पाव[35]: खाद्यान्नों के साथ निष्पाव का भी उल्लेख महापुराण में उपलब्ध है। इसे मोठ भी कहते हैं तथा दाल के रूप में प्रयोग करते हैं।

बरका[36]: मटर के लिए बरका शब्द का प्रयोग महापुराण में हुआ है।

त्रिपुट[37]: इसके लिए हिन्दी में तेवरा शब्द प्रयुक्त हुआ है।

कुलित्थ[38]: यह कुलथी नामक विशेषान्न है।

कड्गव[39]: कांगनी संज्ञक विशेष अन्न को कड्गव कहते हैं ।

अतस्य:[40] यह वर्तमान अलसी है। इसे अतीसी भी कहते हैं। यह खाद्य एवं तैल दोनों रूपों में प्रयुक्त होता है।

सर्षप[41] : सरसों के अर्थ में सर्षप का प्रयोग हुआ है।

कोशीपुट[42] : मूंग की भांति इसका भी प्रयोग होता है।

शस्य[43] : यह धान है जो स्वत: उत्पन्न होता था।

पक्वान्न भोजन :-
--------------- महापुराण में कांदविक (हलवाई) का उल्लेख होने से विभिन्न प्रकार के मधुरान्न का प्रचलन होना स्वाभाविक था।[44] भारत में प्राचीनकाल से पकवान शब्द व्यवहृत होता रहा है। इसे मधुरान्न की संज्ञा प्रदान की गयी है। इसका विवरण निम्नवत है - अपूप:[45] प्राचीन भारत का प्रसिद्ध पक्वान्न अपूप या पुआ है। गेहूं के आटे में चीनी और पानी मिलाकर घी में मन्द-मन्द आंच में पके हुए मालपुए ही अपूप है। यह अनेक भांति के बनाये जाते हैं। चूर्णित अपूप गुझिया है। इसके अन्दर कसार या आटा भरकर निर्मित करते हैं।[46]

व्यंजन[47] : व्यन्जन यनान्नं तद्दधिघृत शाक अर्थात् जिन पदार्थों के साथ खाने से या मिलाने से खाद्य रूचिकर होता है वे दाल, दधि, घृत एवं शाक आदि पदार्थ व्यंजन कहलाते हैं। महापुराण में कई स्थलों पर व्यंजन के व्यवहृत होने का उल्लेख उपलब्ध है।[43]

महाकल्याण भोजन[49] : चक्रवर्ती राजा और सम्पन्न व्यक्ति ही इसका उपयोग करते थे। यह खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय सभी भांति के अद्भुत भोजन का सम्मिश्रण है। इसके सेवन से तृप्ति और पुष्टि दोनों ही मिलती है।

अमृतगर्भमोदक[50] : इसे अनेक प्रकार के अत्यन्त गरिष्ठ, सुगन्धित, स्वादिष्ट एवं रूचिकर पदार्थों से राजाओं और धनी व्यक्तियों के उपयोग के लिए बनाया जाता था।

सूप[51] : पकाये हुए फल, दाल आदि के रस को सूप कहते हैं।

पायस[52] : प्राचीन काल से ही खीर का विशेष महत्व रहा है।

शर्करा[53] : यह एक प्रकार की मिश्री है, जो खाने में मीठी होती है।

पूरिका[54] : आटा और घी से बनी पूड़ियाँ ही पूरिका कहलाती है।

पूपकुली[55] : यह एक प्रकार की कचौड़ी है जिसका निर्माण गूंधे आटे में मसाले तथा घी के योग से होता है।

अम्लिका[56] §कढ़ी§ : यह बेसन से निर्मित खाद्य पदार्थ है।

शाकनिर्मित भोजन : फल एवं पत्ता आदि के भोज्य पदार्थ का इसके अन्तर्गत वर्णन मिलता है।[57]

मेथिक[58] §मेथी§, शाल्मली[59] §सेम§, पनस[60] §कटहल§, चिरभूत[61] §ककड़ी§ तथा कूष्माण्ड[62] §काशीफल§ का उल्लेख पद्मपुराण में प्राप्य है।

दुग्ध निर्मित पदार्थ[63] : दुग्ध का प्रयोग भारत में प्राचीनकाल से ही प्रचलित है। दुग्ध से निर्मित पदार्थों में लेह्य §रबड़ी§[64], घी[65], दही[66] आदि का उल्लेख महापुराण में उपलब्ध है।

भोजन में प्रयुक्त अन्य पदार्थ : आहार के साथ प्रयुक्त होने वाले अन्य उपभोग्य पदार्थों में हरिद्र[67] §हल्दी§, जीरा[68], सरसों[69], धनिया[70], मिर्चा[71], लवंग[72], ताम्बूल[73], एला[74] §इलायची§ की चर्चा जैन महापुराण में वर्णित है।

भोजनशाला में प्रयुक्त पात्र : भोजन-पात्र स्वर्ण, चाँदी, ताम्र, कमलाल, पलाश-दाल का होता था।[75] लोहे एवं मिट्टी के पात्र में भोजन करने का निषेध है।[76] महा-पुराण के अनुसार निम्नलिखित पात्र प्रयुक्त होते थे - पिठर[77] §बटलोई या मटका§ स्थाली[78] §थाली§, चषक[79] §प्याला§, कलश[80] §जल भरने का घड़ा§। भोजन निर्माता हेतु सूपकार[81] शब्द व्यवहृत है। महापुराण में वर्णित है कि अन्तिम कुलकर नाभिराज[82] ने प्रारम्भ में मिट्टी का बर्तन बनाकर दिया और इसी प्रकार पात्र बनाने का उपदेश दिया।[83] अतः स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में लोग मिट्टी के बर्तन का ही उप-योग करते थे, उसके बाद अन्य धातुओं का प्रयोग हुआ।

<u>फल-भोजन</u> :- फल - भोजन का वर्णन भी महापुराण में हुआ उपलब्ध होता है जो निम्नवत है - आम्र[84] §आम§, दाड़िम[85] §अनार§, नारिकेल[86] §नारियल§, कदली[87] §केला§, पूग[88] §सुपारी§, पनस[89] §कटहल§ ।

पेय पदार्थ :-

अन्नाहार और फलाहार के अतिरिक्त कुछ पेय पदार्थ भी आहार के रूप में प्रयोग में आते थे। पुष्पदन्त महापुराण में विभिन्न पेय पदार्थों का विवरण निम्नवत है - सुरा [90] (मदिरा), द्राक्षारस [91], आसव [92], नारिकेलसव [93], अमृत [94], ईख का रस [95]।

प्राचीन काल में मद्य-पान का प्रचलन था। समृद्ध एवं सामान्य परिवार में इसे विलासिता का मापदण्ड माना गया है। [96] हरिवंशपुराण में पिष्ट, किण्व आदि मद्य निर्माण के साधनों का उल्लेख उपलब्ध है। [97] बृहत्कल्पभाष्य में मद्य को स्वास्थ्य तथा दीप्ति का कारण माना गया है। [98] जैन सूत्रों में चन्द्रप्रभा, मणिशलाका, वरसीधु, वरवारुणी, आसव, मेरक, मधु, रिष्टाभ, जम्बूफल, कलिका, दुग्धजाति, प्रसन्नता, तल्लक, शतायु, खर्जूरसार, मृद्वीकासार, कापिशायन सुपक्व और इक्षुसार नामक मदिराओं का वर्णन उपलब्ध है। [99] मद्य का प्रयोग विवाह, उत्सव एवं कामशालाओं में होता था। वेश्याओं के यहाँ मद्य का विशेषतया प्रयोग होता था। [100] पद्मपुराण में अपनी पत्नी के साथ मद्यपान करके आनन्द प्राप्त करने का वर्णन प्राप्य है। [101] अखण्ड मद्यपान कर पत्नी के दोहलापूर्ण करने का दृष्टान्त मिलता है। [102] मद्यप (शराबी) असम्बद्ध गीत गाते, लड़खड़ाते पैरों से नृत्य करते थे, केश बिखरे रहते थे, आभूषण अस्त- व्यस्त रहते थे। कण्ठों में जंगली पुष्पों की माला धारण करते थे। नेत्र इधर- उधर घुमाते थे। [103]

स्त्रियाँ सामान्यतः मदिरा का सेवन नहीं करती थीं। महापुराण में वर्णित है कि विरहणी स्त्रियाँ कामाग्नि की जलन को मद्य का जलन समझकर मदिरा का परित्याग कर देती थीं। [104] इसी प्रकार प्रेमिकाएँ अपने प्रेम की सार्थकता सिद्ध करने के लिए श्राविकाओं की भाँति मद्य का दूर से ही त्याग करती थीं। [105] आर्यपुरुषों को मद्यपान का निषेध किया गया है। [106]

परिधान :-
---------- प्राचीन कालीन वस्त्र का ज्ञान साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों के माध्यम से प्राप्त होता है। महापुराण में वस्त्रों का जैसा वर्णन है, उससे सिले हुए कपड़े पहनने पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। दुकूल, अंशुक, उत्तरीय (कुष्णीश, अस्तनांशुक, स्तनपट) आदि के नाम मिलते हैं। महापुराण में वसन[107] और वस्त्र[108] दो दो शब्दों का प्रयोग आता है। ये दोनों शब्द अपना पृथक् अर्थ रखते हैं। नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार वसन बिना सिले कपड़े के लिए और वस्त्र सिले हुए कपड़ों के लिए प्रयुक्त होता था। प्राचीन काल में ढीले-ढाले कपड़ों का व्यवहार किया जाता था। वसन यों ही लपेटने के काम में आता था पर वस्त्र विशेष अवसरों पर सौन्दर्य प्रसाधन के लिए प्रयोग में लाया जाता था। आठवीं - नवीं शती की उपलब्ध स्त्री मूर्तियों में निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं -

1- जैन या चादर के ओढ़ने का अभाव ।

2- वक्षस्थल और नाभि का खुला हुआ प्रदर्शन ।

जैन साधु एवं साध्वियों की वेशभूषा में हम जैनधर्म के विकसित रूप का दिग्दर्शन करते हैं। प्रारम्भ में मोटे एवं सूक्ष्म वस्त्र केवल सामाजिक नियमों का पालन करने के लिए धारण करते थे परन्तु शनैः शनैः भारतीय संस्कृति की विशेषता के प्रभाव से तप: प्रधान जैनधर्म भी अछूता नहीं रह सका और उसे अपने वस्त्र सम्बन्धी कठोर नियमों को शिथिल करना ही पड़ा।[109] यहाँ पर उल्लेखनीय है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनियों के लिए वस्त्रों का निषेध है। साधु, साध्वियाँ अपने गुह्योग के आवरणार्थ वस्त्रों का प्रयोग करते थे। महापुराण में जहाँ मनोज्ञ वेशभूषा पर अधिक बल दिया गया है वहीं विभिन्न शुभ अवसरों पर वेशभूषा की महत्ता भी प्रतिपादित की गयी है।[110] वस्त्रों को सुगन्धित करने के लिए पटवासक चूर्ण का भी प्रयोग करते थे।[111] पद्मपुराण में भी उक्त मान्यता को स्वीकार किया गया है।[112]

वस्त्रों के प्रकार :-

महापुराण में सूती, रेशमी और ऊनी ये तीन प्रकार के वस्त्र प्रतिपादित किये गये हैं।[113] हरिवंशपुराण में भी उक्त मत को स्वीकार किया गया है।[114] आलोचित जैन महापुराण में अधोलिखित वस्त्रों का विस्तारशः वर्णन प्राप्य है :-

क्षौम[115] :-

मोतीचन्द्र के मतानुसार यह बहुत महीन और सुन्दर वस्त्र था, यह अलसी के छाल के रेशों से बनता था।[116] कुछ विद्वानों के मत में यह आसाम और बंगाल में उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की घास से निर्मित किया जाता था।[117] काशी और पुण्ड्रदेश का क्षौम प्रसिद्ध था।[118]

दुकूल[119] :-

निशीथचूर्णी में उल्लिखित है कि दुकूल का निर्माण दुकूल नामक वृक्ष की छाल को कूटकर उसके रेशों से करते थे।[120] यह श्वेतरंग का सुन्दर और बहुमूल्य वस्त्र होता था। बंगाल में उत्पादित एक विशेष प्रकार के कपास से निर्मित दुकूल वस्त्र का वर्णन आचारांगसूत्र में उपलब्ध है।[121] बाण ने दुकूल से निर्मित उत्तरीय, साड़ियाँ, पलंगपोश, तकिया के गिलाफ आदि का उल्लेख किया है।[122] वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी दुकूल का तात्पर्य कपड़े से किया है।[123]

अंशुक[124] :-

ग्रीष्म ऋतु में इसका उपयोग होता था। यह चन्द्र किरण और श्वेत कमल के समान सफेद होता था।[125] बृहत्कल्पसूत्रभाष्य की टीका में यह कोमल एवं चमकीला रेशमी वस्त्र वर्णित किया गया है।[126] समराइच्चकहा[127] एवं आचारांग[128] में अंशुक का उल्लेख प्राप्य है। निशीथचूर्णी में वर्णित है कि अंशुक में तारबीन का काम होता था। अलंकारों में जरदोजी का काम एवं उनमें स्वर्ण के तार से चित्र विचित्र नक्काशियाँ निर्मित की जाती थी।[129] बाण ने अंशुक को अत्यंत स्वच्छ एवं झीना वस्त्र स्वीकार किया है।[130] वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार यह उत्तरीय

वस्त्र था जिसके ऊपर कसीदा द्वारा अनेक भाँति के फूल निर्मित किये जाते थे।[131] महापुराण में अंशुक के प्रकार बताये गये हैं, जैसे - सीतांशुक, रक्तांशुक और नीलांशुक आदि।[132] इसी प्रकार बिनावट के आधार पर इसके भेद एकांशुक, अर्ध्यांशुक द्वयांशुक तथा त्रयांशुक आदि हैं।[133]

अंशुक वस्त्रों के अधोलिखित उपभेद मिलते हैं - शुकच्छायांशुक[134] - यह महीन हरित रंग का रेशमी वस्त्र है।

2- स्तनांशुक[135] :- नाभि, त्रिवलय, रोमराशि एवं पयोधरों का सांगोपांग वर्णन इस बात की पुष्टि करता है कि यह एक प्रकार की अंगिया था। यह रेशमी वस्त्र का टुकड़ा होता था जिसको स्तन पर सामने से ले जाकर पीछे पीठ पर गाँठ बाँधी जाती थी। कालान्तर में इसे स्तन-पट्ट भी कहा गया है। इसका प्रमाण गुप्तकालीन चित्रों में स्तनपट्ट धारण किये हुए स्त्रियों के चित्रण से उपलब्ध होता है।[136]

3- पटांशुक[137] : महीन धवल एवं सादे रेशमी वस्त्र की संज्ञा पटांशुक थी।[138अ] समराइच्चकहा में इसको पटवास उल्लिखित किया गया है।[138ब]

4- सदंशुक[139] : यह स्वच्छ, श्वेत, सूक्ष्म एवं स्निग्ध रेशमी वस्त्र होता था। तीर्थंकर भी इसको धारण करते थे।

5- उज्ज्वलांशुक[140] : इस प्रकार के रेशमी वस्त्र को स्त्रियाँ साड़ी की भाँति धारण करती थीं।

6- कुसुम्भ[141] : यह लाल रंग का सूती और रेशमी वस्त्र होता था। सम्भवत: निर्धन व्यक्ति कुसुम्भ का प्रयोग करते थे और धनी लोग रेशमी वस्त्र का।

नेत्रवस्त्र[142] : नेत्र कलावन्त और रेशम से बुना हुआ वस्त्र विशेष है। कालिदास ने सर्वप्रथम नेत्र का उल्लेख किया है।[143] हरिवंशपुराण में इसके लिए "महानेत्र" शब्द प्रयुक्त हुआ है।[144]

चीनपट[145] : निशीथ में वर्णित है कि बहुत पतले रेशमी कपड़े अथवा चीन के बने रेशमी कपड़े को चीनांशुक या चीनपट कहते हैं।[146] बृहत्कल्पभाष्य में इसका वर्णन चीन के महीन रेशमी वस्त्र के रूप में प्राप्य है।[147]

प्रावार[148] : प्रावार का अर्थ दुशाला है, हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में "राजाच्छादना: प्रावारा:" का प्रयोग किया है।[149] इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि राजा महाराजाओं को ओढ़ने बिछाने योग्य ऊनी या रेशमी चादर प्रावार कहलाते थे। आचारांगसूत्र में भी प्रावारा: का निर्देश आया है।[150] निशीथ में नीलगाय के चमड़े से बनी चादर को प्रावार कहा गया है।[151]

परिधान[152] : अधोवस्त्र अर्थात् धोती को परिधान कहा गया है।

उपसंव्यान[153] : यह शब्द धोती का बोधक है। अमरकोश में धोती को पर्यायार्थक चार शब्द - अन्तरीय, उपसंव्यान, परिधान और अधोंशुक उपलब्ध है।[154]

उष्णीष[155] : उष्णीष शिरोवेष्टनम् अर्थात् पगड़ी या साफा के लिए उष्णीष का प्रयोग सर्वप्रथम अथर्ववेद में हुआ है। शतपथब्राह्मण में वर्णित है कि यज्ञ के अवसर पर यजमान उष्णीष धारण करते थे।[156]

कम्बल[157] : कम्बल का व्यवहार प्राचीनकाल के अथर्ववेद में उपलब्ध है।[158] इसका प्रयोग सभी लोग करते थे। इसका प्रयोग रथ के पर्दे के निर्माण में भी होता था। ये रथ "पांडुकम्बलेन छन्न: पाण्डुकम्बलीरथ:"[159] कहलाते थे। नेपाल के कम्बल रत्नकम्बल कहे जाते थे।

चीवर[160] : चीवर बौद्ध भिक्षुओं का परिधान था। ब्रह्मचारी एवं श्रवण चीवर धारण करते थे।[161] मोतीचन्द्र ने अपने ग्रन्थ "प्राचीन भारतीय वेशभूषा" में बौद्ध भिक्षुओं के प्रयोगार्थ तीन वस्त्रों का उल्लेख किया है -

1- संघाटी - कमर में लपेटने की दोहरी तहमत ।

2- अन्तरवासक : ऊपरी भाग ढंकने का वस्त्र ।

3- उत्तरासंग : चादर[162] ।

बल्कल[163] - वैदिक काल से इसका प्रयोग प्रचलित है। आश्रमवासी तपसी एवं साधु वल्कल धारण करते थे[164]। शाकुन्तल नाटक में भी बल्कल वस्त्रों का व्यवहार कण्व मुनि के आश्रमवासियों में पाया जाता है। बौद्ध भिक्षुओं के लिए छाल के वस्त्र (वल्कल) का प्रयोग अविहित है[165]। हर्षचरित में बाणभट्ट ने सावित्री को कल्पद्रुम की छाल-निर्मित बल्कल वस्त्र धारण किये हुए उल्लेख किया है[166]।

एणाजिन[167] : कृष्णमृगचर्म को एणाजिन कहा गया है। तापसी एवं वनवासी मृग-चर्म का प्रयोग वस्त्र एवं आसन दोनों के लिए करते थे ।

उपानत्क[168] : उपानत्क शब्द से जूता का बोध होता है। जातक ग्रन्थों में जूतों के आकार और रंग आदि का वर्णन पाया जाता है। यह रंग- बिरंगे एवं कई तल्ले के निर्मित किये जाते थे[169]।

उत्तरीय[170] : इसका दुपट्टार्थ प्रयोग हुआ है। इसे कन्धे पर धारण करते थे[171]। अमरकोश में उत्तरीय को ओढ़ने वाला वस्त्र कहा गया है[172]।

अलंकरण -

वस्त्रों के समान समृद्ध और सुखी जीवन के लिए आभूषणों का व्यवहार करना भी परम उपादेय माना गया है। सुसंस्कृत जीवन के लिए आत्मा और शरीर दोनों का संस्कृत और सज्जित रहना आवश्यक है। सिकदा के मतानुसार वस्त्र निर्माण- कला के आविष्कार के साथ- साथ आभूषण का भी प्रयोग भार-तीय सभ्यता के विकास के साथ प्रारम्भ हुआ[173अ]।

जैन महापुराण में शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए आभूषण की उपादेयता का प्रतिपादन हुआ है। महापुराण में वर्णित है कि कुलवती नारियाँ अलंकरण धारण करती थीं,[173ब] जबकि विधवा स्त्रियाँ इसका परित्याग कर देती थीं।[174] इसी ग्रन्थ में आभूषण से अलंकृत होने के लिए अलंकरणगृह[175] एवं श्रीगृह[176] का उल्लेख हुआ है। महापुराण में वर्णित है कि नूपुर, बाजूबन्द, रुचिक, अंगद, करधनी, हार एवं मुकुटादि आभूषण विभूषांग नाम के कल्पवृक्ष द्वारा उपलब्ध होते थे।[177] प्राचीन काल में आभूषण एवं प्रसाधन सामग्री की उपलब्धि वृक्षों से होने का उल्लेख प्राप्य है। शकुन्तला को विदाई के शुभ अवसर पर वृक्षों ने उनको वस्त्र, आभरण एवं प्रसाधन- सामग्री प्रदत्त किया था।[178]

आभूषण बनाने के उपादान :-

पुष्पदन्त महापुराण में आपाद- मस्तक आभूषणों के उल्लेख प्राप्य हैं। इस महापुराण में वर्णित है कि अग्नि में स्वर्ण को तपाकर शुद्ध करने के उपरान्त आभूषण निर्मित होते हैं।[179] रत्नजटित स्वार्णाभूषण को रत्नाभूषणादि की संज्ञा से सम्बोधित करते हैं। समुद्र में महामणि के बढ़ने का भी उल्लेख मिलता है।[180]

जैन महापुराण में विभिन्न प्रकार की मणियों का वर्णन उपलब्ध है, जो निम्नवत है - मोती,[181] वज्र (हीरा),[182] इन्द्रमणि,[183] प्रवाल,[184] गोमुखमणि,[185] मुक्ता,[186] स्फटिकमणि,[187] मरकतमणि,[188] पद्मरागमणि,[189] (जात्यन्जय (कृष्णमणि), पद्मराग,[190] (कालमणि),[191] हेम[192] (पीतमणि), मुक्ता[193] (श्वेतमणि) आदि आभूषण निर्माण में उक्त मणियों का प्रयोग होता था।

आभूषण के आकार- प्रकार :- नर- नारी दोनों ही आभूषण प्रेमी होते थे। इनके आभूषणों में प्राय: साम्यतता परिलक्षित होती है। स्त्री- पुरुष दोनों ही कुण्डल, हार, अंगद, ~~कंकण~~ मुद्रिकादि आभूषण शिखामणि किरीट एवं मुकुट धारण

करते थे। पुरूषों के प्रमुख आभूषण शिखामणि किरीट एवं मुकुट थे। अंगानुसार पृथक्-पृथक् आभूषण धारण करने का प्रचलन था। इनका विवरण निम्नवत है -

शिरोभूषण :- सिर को विभूषित करने वाले अलंकरणों में प्रमुख मुकुट, किरीट, सीमोन्तकमणि, छत्र, शेखर, चूड़ामणि, पट्ट आदि हैं। महापुराण के अनुसार सिन्दूर से तिलक भी लगाते थे।[194]

1- किरीट[195] : चक्रवर्ती एवं महान् सम्राट ही इसको धारण करते थे। इसका निर्माण स्वर्ण से होता था।

2- किरीटी[196] : महापुराण में इसका वर्णन प्राप्य है। इसका निर्माण स्वर्ण और मणियों द्वारा होता था। किरीट से यह छोटा होता था। स्त्री- पुरूष दोनों ही इसको धारण करते थे।

3- चूड़ामणि[197] : महापुराण में चूड़ामणि के साथ चूड़ारत्न भी व्यवहृत हुआ है।[198] इन दोनों में अलंकरण की दृष्टि से साम्यता थी। किन्तु भेद मात्र नाम का है। पद्मपुराण में चूड़ामणि के लिए मूर्धन्यरत्न का प्रयोग हुआ है।[199] राजाओं एवं सामन्तों द्वारा इसका प्रयोग किया जाता था। चूड़ामणि के मध्य में मणिका का होना अनिवार्य था।

4-मुकुट[200] : यह राजा एवं सामन्त दोनों के ही सिर का आभूषण था। किरीट की अपेक्षा इसका मूल्य कम होता था। तीर्थंकरों के मुकुट धारण करने का उल्लेख जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है। राजाओं के पदचिह्नों में से यह भी था। नि:सन्देह मुकुट का प्राचीन काल में अत्यधिक महत्व था। विशेषत: इसका प्रचलन राज परिवारों में ही था।

5- मौलि[201] : वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार केशों के ऊपर के गोल स्वर्णपट्ट को मौलि संज्ञा प्रदान की गयी है।[202] रत्न रश्मियों से जगमगाने वाले, स्वर्ण सूत्र में परि वेष्टित एवं मालाओं से युक्त मौलि का उल्लेख पद्मपुराण में भी उपलब्ध है। किरी

से इसका स्थान निम्न जान पड़ता है किन्तु सिर के अलंकारों में इसका महत्वपूर्ण स्थान था।

6- सीमान्तकमणि[203] : स्त्रियाँ अपने माँग में इसको धारण करती थी। आज भी माँग-टीका के नाम से इसका प्रचलन है।

7- उत्तंस[204] : किरीट एवं मुकुट से भी यह उत्तम कोटि का आभूषण होता था। तीर्थंकर इसको धारण करते थे। अन्य प्रकार के मुकुटों से इसमें सुन्दरता अत्यधिक होती थी। इसका प्रयोग विशेषतः धार्मिक गुरू ही करते थे।

8- कुन्तली[205] : किरीट के साथ ही इसका भी उल्लेख प्राप्य है। इससे ज्ञात होता है कि किरीट से कुन्तली का आकार दीर्घ होता था। कलँगी के रूप में इसको केश में लगाते थे। किरीट के साथ ही इसको भी धारण करते थे। इसका प्रयोग स्त्री-पुरूष दोनों में प्रचलित था। जनसाधारण में इसका प्रचलन नहीं था। इसके धारण करने से व्यक्तित्व में कई गुनी वृद्धि हो जाती थी। अपनी समृद्धि एवं प्रभुता के प्रदर्शनार्थ स्त्रियाँ इसको धारण करती थीं।

9- पट्ट[206] : बृहत्संहिता[207] में पट्ट का स्वर्णनिर्मित होना आवश्यक माना है। इसी स्थल पर इसके अधोलिखित पाँच प्रकारों का भी वर्णन उपलब्ध होता है -
§1§ राजपट्ट § तीन शिखाएँ§, §2§ महिषीपट्ट § तीन शिखाएँ §,
§3§ युवराजपट्ट § तीन शिखाएँ§, §4§ सेनापतिपट्ट § एक शिखा§, §5§प्रसाद-पट्ट § शिखा विहीन§। शिखा से कलँगी का तात्पर्य है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि इसका निर्माण स्वर्ण से ही होता था और पगड़ी के ऊपर इसे बाँधा जाता था।[208] आजकल भी विवाह के शुभावसरों पर पगड़ी के ऊपर पट §कलँगी§ बाँधते हैं।

कर्णाभूषण : कानों में आभूषण धारण करने का प्रचलन प्राचीन काल से चला आ रहा है। स्त्री-पुरूष दोनों ही के कर्णपालिकों में छिद्र होते थे और दोनों ही इसे धारण करते थे। कुण्डल, अवतंस तलपत्रिका, बालियाँ आदि कर्णाभूषण में परिगणित होते हैं। कर्णाभूषण[209] एवं कर्णाभरण[210] शब्द इसके बोधक हैं।

कुण्डल[211] : यह कर्णों में धारण किया जाता था। महापुराण में उल्लिखित है कि कुण्डल कपोल तक लटकते थे।[212] अमरकोश भी उक्त रीति को स्वीकार करता है।[213] पद्मपुराण का कथन है कि मात्र शरीर के हिलने से कुण्डल भी हिलने लगता था।[214] कुण्डल के अनेकश: नाम महापुराण में मिलते हैं यथा मणिकुण्डल, रत्नकुण्डल, मकराकृत कुण्डल आदि।[215] इसकी पुष्टि समराइच्चकहा,[216] यशस्तिलक,[217] अजन्ता की चित्रकला[218] और हम्मीर महाकाव्य[219] में भी प्राप्य है।

कण्ठाभूषण : कण्ठाभूषण स्त्री और पुरूष दोनों धारण करते थे। इसके निर्माण में मात्र मुक्ता और स्वर्ण का ही प्रयोग होता था। हार के जितने विविध प्रकार हमें महापुराण में प्राप्त होते हैं, उतने अन्यत्र स्थान पर दुर्लभ है। इनसे उस समय के भारत की आर्थिक समृद्धि की तो सूचना मिलती ही है पर स्वर्णकारों की शिल्पकुशलता का भी परिचय मिलता है। इस प्रकार के आभूषणों में यष्टि, हार तथा रत्नावली आदि प्रमुख हैं। यष्टि को अलग से धारण करते थे और इससे हार भी बनाते थे।

यष्टि : लड़ियों के समूह को यष्टि कहा गया है। महापुराण में यष्टि के शीर्षक उपशीर्षक, अवघाटक और तरल प्रतिबन्ध पाँच प्रकार वर्णित हैं।[220]

1- शीर्षक : इसके बीच में एक स्थूल मोती होता है।[221]

2- उपशीर्षक : इनके मध्य में क्रमानुसार बढ़ते हुए आकार के तीन मोती होते हैं।[222]

3- प्रकाण्ड : इसके बीच में पाँच मोती जटित होते हैं।[223]

4- अवघाटक : जिसके बीच में ~~एक~~ एक दीर्घाकार मणि लगा हो और उसके दोनों ओर क्रमानुसार घटते हुए आकार के छोटे-छोटे मोती जड़े हो, उसे अवघाटक कहते हैं।[224]

5- तरल प्रतिबन्ध : इसकें एक समान मोती लगे होते हैं।[225]

उपर्युक्त पाँचों प्रकार की यष्टियों के मणिमध्या तथा शुद्धा दो भेद प्राप्त होते हैं।[226]

1- मणिमध्या यष्टि : इसके बीच में मणि लगा रहता है। मणिमध्या यष्टि के भी तीन उपभेद हैं यथा - एकावली, रत्नावली तथा अपवर्तिका।[227] अमरकोश में मोतियों की एक लड़ी की माला को एकावली की संज्ञा प्रदान की गयी है।[228] सफेद मोती को मणिमध्या के रूप में लगाकर एकावली बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[229]

2- शुद्धा यष्टि : शुद्धा यष्टि के बीच में मणि नहीं लगायी जाती है।[230]

हार[231] :
------ महापुराण के अनुसार यष्टि अर्थात् लड़ियों के समूह को हार की संज्ञा प्रदान की गयी है।[232] हार में शुद्ध और कान्तिमान रत्न का प्रयोग करते थे। माला भी हार की कोटि में आता है। हार मोती या रत्न से ग्रँथित किये जाते थे। लड़ियों की संख्या के न्यूनाधिक होने से हार के ग्यारह प्रकार होते थे।[233]

1- इन्द्रच्छन्दहार : जिसमें 1008 लड़ियाँ होती थीं, उसे इन्द्रच्छन्द हार कहते थे। मूल्य और सौन्दर्य दोनों दृष्टियों से यह उत्तम कोटि का होता था। इसको इन्द्र, जिनेन्द्रदेव एवं चक्रवर्ती सम्राट ही धारण करते थे।[234]

2- देवरच्छन्दहार : यह मोतियों की 81 लड़ियों का निर्मित हार होता था।[235]

3- विजयच्छन्दहार : जिसमें 504 लड़ियाँ होती थी उसे विजयच्छन्दहार की संज्ञा प्रदान की गयी थी। इस हार का प्रयोग अर्द्ध चक्रवर्ती और बलभद्र आदि पुरुषों द्वारा किया जाता था।[236]

4- हार : जिस हार में 108 लड़ियाँ होती थीं, वह हार की संज्ञा से जाना जाता था।[237]

5- अर्द्धहार : जिसमें चौंसठ लड़ियाँ होती थी उसे अर्द्धहार की संज्ञा से संबोधित किया जाता था।[238]

6- रश्मिकलापहार : इसमें 54 लड़ियाँ होती थीं एवं इसकी मोतियों से अपूर्व रश्मि निस्सरित होती थीं।[239]

7- गुच्छहार : 32 लड़ियों के समूह को गुच्छहार नाम प्रदान किया गया है।[240]

8- नक्षत्रमालाहार : सत्ताइस लड़ियों वाले मौक्तिकहार को नक्षत्रमालाहार की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इस हार की मोतियाँ अश्वनी, भरणी आदि नक्षत्र वाली की शोभा का उपहास करती थीं।[241]

9- अर्द्धगुच्छहार : मुक्ता की चौबीस लड़ियों का हार अर्द्धगुच्छहार कहलाता है।[242]

10- माणवहार : इस हार में मोती की बीस लड़ियाँ होती थीं।[243]

11- अर्द्धमाणवहार : इसमें मुक्ता की दस लड़ियाँ होती थीं।[244]

यदि हार के उक्त ग्यारह प्रकारों में प्रत्येक प्रकार के संग यष्टि के पाँच प्रकारों - शीर्षक, उपशीर्षक, अवघातक, प्रकाण्ड एवं तरल प्रतिबन्ध" को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो इसके 55 उप प्रकार हो जाते हैं ।

<u>महापुराण में हार के ग्यारह भेद -</u> इन्द्रच्छन्द, विजयच्छन्द, हार, देवच्छन्द, अर्द्धहार, रश्मिकलाप, गुच्छ, नक्षत्रमाला, अर्द्धगुच्छ, माणव एवं अर्द्धमाणव है।[245] महापुराण में स्पष्ट है कि इन्द्रच्छन्द आदि हारों के मध्य में जब मणि जटित होती है तब उनके नामों के साथ माणव शब्द संयुक्त हो जाता है। इस प्रकार इनके नाम इन्द्रच्छन्द, माणव, विजयच्छन्द, माणव, हार, माणव, देवच्छन्द माणव आदि हो जाते हैं।[246] ये सभी हार की कोटि में आते हैं ।

<u>अन्य आभूषण :-</u> गले में धारण करने वाले अन्य आभूषणों के उल्लेख महापुराण में द्रष्टव्य हैं - कण्ठमालिका[247] (स्त्री- पुरुष दोनों धारण करते थे), कण्ठाभरण[248] (पुरुषों का आभूषण) कंचनसूत्र[249] (सुवर्ण या रत्नयुक्त) मणिहार,[250] मुक्ताहार,[251] कण्ठिका,[252] ग्रैवेयक[253] आदि ।

करांभूषण :-

प्राचीन भारत में अंगद, वलय, केयूर, कटक और अँगूठी ये पाँच कराभूषण प्रचलित थे। इन आभूषणों का स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रूप से व्यवहार करते थे। अन्तर केवल इतना ही था कि पुरुष वर्ग सादे आभूषणों को धारण करता था और स्त्री वर्ग के आभूषणों में घुँघरू आदि लगे रहते थे। महापुराण में वर्णित आभूषणों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है -

1- अंगद[254]: इसे भुजाओं पर बाँधा जाता था। स्त्री और पुरुष दोनों ही इसे समान रूप से धारण करते थे। अंगद के समान केयूर का प्रयोग जैन महापुराण में वर्णित है। क्षीरस्वामी ने केयूर और अंगद की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि "के बाहुशीर्षे यौति केयूरम्" अर्थात् जो भुजा के ऊपरी छोर को सुशोभित करे उसे केयूर कहते हैं और अंग दायति द्यति वा अंगदम्" अर्थात् जो अंग को निपिड़ित करे वह अंगद है।[255]

2- केयूर[256]: स्त्री-पुरुष दोनों ही अपने भुजाओं पर केयूर (अंगद या केयूर) धारण करते थे।[257] यह स्वर्ण एवं रजत निर्मित होते थे। केयूर में नोक होती थी।[258] भर्तृहरि ने केयूर का प्रयोग पुरुषों के अलंकार के अन्तर्गत किया है।[259]

3- मुद्रिका : यह हाथ की अँगुली में धारण करने का आभूषण मुद्रिका है। इसका प्रयोग स्त्री- पुरुष दोनों समान रूप से करते हैं। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में स्वर्ण-घटित, रत्नजटित, पशु - पक्षी, देवता- मनुष्य एवं नामोत्कीर्ण मुद्रिका का उल्लेख उपलब्ध होता है।[260] पद्मपुराण में अंगूठी के लिए उर्मिका शब्द प्रयुक्त हुआ है।[261] त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित में भी स्त्री के आभूषण के रूप में अंगूठी का वर्णन प्राप्य है।[262]

4- कटक[263]: प्राचीन काल से हाथ में स्वर्ण, रजत, हाथीदाँत एवं शंखनिर्मित कटक धारण करने का प्रचलन था। स्त्री- पुरुष दोनों ही इसका प्रयोग करते थे। महापुराण में रत्नजटित चमकीले कड़े के लिए दिव्य कटक शब्द का प्रयोग हुआ है।[264]

हर्षचरित में कटक और केयूर दोनों का वर्णन आया है।[265]

कटि आभूषण :-

कटि आभूषणों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसे कमर में पहनते हैं। कांची,[266] मेखला,[267] रसना,[268] दाम,[269] कटिसूत्र[270] आदि की गणना कटि आभूषणों में हुआ है। ये आभूषण स्वर्ण, रत्न, मुक्ता प्रभृति द्वारा निर्मित होते थे।

पादाभूषण :-

इसे पैर में धारण करते थे। पैरों को सजाना और उन्हें अनेक प्रकार से सुन्दर बनाना सुरुचिपूर्ण व्यक्तियों के लिए आवश्यक था। जीवन उद्देश्य सुख, शान्ति और आनन्द प्राप्त करना है। जिन व्यक्तियों को जीवनकला का परिज्ञान है वे वेशभूषा, आभरण एवं अन्य प्रकार की प्रसाधन सामग्री द्वारा अपने शरीर को सुसंस्कृत करते हैं। उनकी यह सुरुचि ही संस्कृति है तथा सुरुचिपूर्ण जीवन यापन करना सांस्कृतिक जीवन है।

पादाभूषणों में नूपुर,[271] मणिनूपुर,[272] तुलाकोटिक[273] और गोमुखमणि[274] के नाम विशेष रूप से आते हैं।

प्रसाधन :-

पुष्पदन्त महापुराण में प्रसाधन- सामग्री का विवरण मिलता है। स्त्री और पुरुष दोनों ही प्रसाधन करते थे। स्त्रियाँ नख से लेकर शिर तक प्रसाधन करती थीं। पुरुष वर्ग भी प्रसाधन प्रिय थे।

(अ) प्रसाधन सामग्री एवं उसका प्रयोग :-

पुष्पदन्त महापुराण में स्त्री- पुरुषों के प्रसाधन- सामग्री का विशद वर्णन प्राप्य है। अधोलिखित प्रसाधन-सामग्रियों का विशेष महत्व है -

1- मन्जन[275] : स्नान करने हेतु स्नान सामग्री प्रयोग में लायी जाती थी। इसके प्रयोग से शारीरिक स्वच्छता, स्फूर्ति एवं कान्ति प्राप्त होती थी।

2- तिलक[276] : स्त्री और पुरूष दोनों ही मस्तक पर तिलक का व्यवहार करते थे, यह तिलक हरताल मन:शिला केशर आदि द्रव्यों का बनाया जाता था। स्त्रियाँ लाल रंग का तिलक लगाती थीं। लाल रंग की बिन्दी लगाने का प्रचार भी नारियों में था। ललाट तिलक के अभाव में शून्य और अमांगलिक समझा जाता था। मालविकाग्निमित्र[277] और रघुवंश[278] में ललाट- तिलक का उल्लेख आया है।

3- पत्ररचना[279] : स्त्रियाँ सौन्दर्य- वृद्धि एवं आकर्षणार्थ हस्तनिर्मित पत्र रचना के चित्रों से अपने कपोलों को चित्रित करती थीं।

4- अधरराग[280] : स्त्री और पुरूष दोनों ही अपने अधरें को रँगते थे। इससे उनके सौन्दर्य में अभिवृद्धि हो जाती थी। जिनके अधर रक्तवर्णीय होते थे वे पान के रस के संसर्ग से अत्यधिक लाल हो जाते थे।[281 अ]

5- काजल[281 ब] : स्त्री- पुरूष अपनी आँखों की रक्षा एवं सौन्दर्य वृद्धि के लिए अंजन (काजल) का प्रयोग करते थे।

6- भौंह का श्रृंगार[281 स] : आधुनिक काल की भाँति उस समय भी स्त्रियाँ सौन्दर्य वृद्धि के लिए अपने भौंहों का प्रसाधन किया करती थीं।

7- चन्दन[282] : शीतलता तथा सौन्दर्य के लिए चन्दन का प्रयोग किया जाता था। चन्दन में कस्तूरी, प्रियंगु, कुंकुम एवं हल्दी को मिश्रित करके लेप किया जाता था।

8- कपूर[283] : कपूर का उपयोग सन्ताप को दूर करने तथा शरीर को सुगन्धित करने के लिए किया जाता था।

9- कुंकुम[284] : शारीरिक स्वास्थ्य सौन्दर्य एवं सुगन्धि के लिए कुंकुम का प्रयोग स्त्री- पुरूष दोनों किया करते थे।

(ब) केश - प्रसाधन :-

पुष्पदन्त महापुराण में केशों का प्रसाधन कई प्रकार से किया जाता था जिससे स्त्री- पुरुष अपनी सुन्दरता को प्रदर्शित कर सके । केशों के लिए कुन्तल, केश, कबरी, अलक आदि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध है। सुगन्धित जल से स्नानोपरान्त केश को धूम में सुखाया जाता था तदुपरान्त तेल आदि द्वारा केशों को सवाँर कर बाँधा जाता था। केश- प्रसाधन में पुष्प- माला, विभिन्न प्रकार के पुष्प, पुष्पराग, पल्लव, मंजरी एवं सिन्दूर आदि का प्रयोग किया जाता था।[285] महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में धूम से सुगन्धित केश को धूमवास[286] और धूपित केश को "आश्यान" वर्णित किया है।[287] केश को सुगन्धित करने के लिए मेघदूत में "केश- संस्कार" शब्द प्रयुक्त हुआ है।[288] महापुराण में वर्णित है कि सफेद बाल वाले लोग बालों में हरिद्वार (खिजाव) लगाते थे।[289] महापुराण के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि सफेद बाल को खिजाब द्वारा काला करने की परम्परा महापुराण काल में भी प्रचलित थी।

(स) पुष्प- प्रसाधन :-

सौन्दर्य अभिवृद्धि के लिए स्त्री- पुरुष द्वारा पुष्पमाला[290] आम्रमंजरी,[291] पुष्पमंजरी,[292] कर्णोत्पल[293] इत्यादि पुष्पों द्वारा विभिन्न प्रकार से प्रसा- धन के रूप में प्रयोग करने का उल्लेख महापुराण में उपलब्ध है।

मनोरंजन -

मानव प्रवृत्ति से ही मनोरंजन प्रेमी रहा है। अनवरत कार्यरत रहने के कारण जब मनुष्य थकान का अनुभव करता है तो उससे मुक्ति पाने के लिए उसको ऐसे साधन की आवश्यकता पड़ती है, जिसके द्वारा उसे आनन्द एवं स्फूर्ति की अनुभूति हो और अपने अतीत को विस्मृत कर उत्साह के साथ अपने जीवन पथ पर अग्रसर हो सके। इसलिए प्राचीन काल से मनुष्य विविध प्रकार से अपना मनोरंजन करता रहा है।

जैन महापुराण में मनोरंजन विषयक जो सामग्री प्राप्त होती है उससे एक ओर मनोरंजन के अनेक प्रकारों का पता चलता है तो दूसरी ओर मनोरंजन की सात्विकता के विषय में भी जानकारी होती है। महापुराण के अनुसार इस संसार में सभी लोग अपने मन के विषयभूत पदार्थ (मनोरंजन) की कामना करते हैं।[294] मनोरंजन में आवश्यकता से अधिक लिप्त होना वर्जित है।[295]

मनोरंजन के प्रकार :- सोमेश्वर ने बीस प्रकार के मनोरंजनों का उल्लेख किया है।[296 अ] मनोरंजन के साधनों को मुख्यत: तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।[296 ब]

1- शारीरिक :- इसमें शरीर को स्वस्थ एवं सबल बनाने के लिए दौड़धूप, कुश्ती, नाना-प्रकार के खेलकूद, शिकार आदि हैं ।

2- मानसिक :- मानसिक शक्तियों के विकासार्थ नृत्य-गीत, नाट्य-अभिनय, कविता-पाठ, आख्यान-कहानी, कथा इत्यादि की प्रथा और कुछ बुद्धिप्रधान खेल, जैसे शतरंज, चौपड़ आदि इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं ।

3- आध्यात्मिक :- इस शक्ति की अभिवृद्धि के लिए यज्ञ-हवन, पूजा-पाठ, स्नान-दर्शन, यात्रा-श्रृंगार प्रभृति इसकी प्रथाएँ हैं। क्रीड़ा (जलक्रीड़ा,[297] वनक्रीड़ा,[298] दोलाक्रीड़ा,[299] कन्दुकक्रीड़ा,[300] दण्डक्रीड़ा,[301] द्यूतक्रीड़ा,[302] मृगयाविनोद क्रीड़ा,[303] पर्वतारोहण क्रीड़ा[304]) एवं गोष्ठी[305] (गीत, नृत्य, वादित्र, वीणा, कथा, पद, काव्य, जल्प, भ्रमर, विद्वान, कला, पद, विद्या-सम्वाद, शास्त्र मूर्ख आदि गोष्ठियों का उल्लेख मिलता है) भी मनोरंजन के प्रमुख साधन थे ।

शिक्षा और साहित्य -

प्राचीन काल में मानव जीवन में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। मनुष्य और समाज का आध्यात्मिक और बौद्धिक उत्कर्ष शिक्षा के ही माध्यम से सम्भव माना जाता रहा है। कोई मनुष्य अन्य किसी मनुष्य से बड़ा उसी स्थिति में होता है जब उसकी बुद्धि और मस्तिष्क शिक्षा द्वारा तीव्र और उच्च होती है। इसीलिए विद्याहीन मनुष्य को पशुवत कहा गया है।[306] अथर्ववेद में विद्या अथवा शिक्षा के उद्देश्य और उसके परिणाम का उल्लेख किया गया है जिसमें श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धन, आयु और अमृतत्व को सन्निहित किया गया है।[307] विद्या और सच्ची लगन के साथ जो व्यक्ति कर्म करता है वही अधिक शक्तिशाली होता है।[308] वस्तुत: ज्ञान अथवा विद्या से व्यक्ति का कर्म और आचरण परिष्कृत और दिव्य हो जाता है और वह ज्ञान सम्पन्न होकर देव- तुल्य हो जाता है। अज्ञानता अन्धकार के समान है।[309] अत: अज्ञानी मनुष्य का जीवन अन्धकारमय है। उसके कर्मों की कोई महत्ता नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि अक्षर को जानने और न जाने वाला, दोनों कर्म करते हैं। किंतु विद्या और अविद्या दोनों भिन्न- भिन्न {फल देने वाली} हैं। जो कर्म विद्या श्रद्धा और योग से युक्त होकर किया जाता है, वही प्रबलतर होता है।[310] अत: ज्ञान से ही उसका जीवन [illegible] होता है। ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो उसे समस्त तत्वों के मूल को समझने में समर्थ करता तथा उसे सही कार्यों की ओर प्रवृत्त करता है।[311] महाभारत में वर्णित है कि विद्या के समान दूसरा कोई नेत्र नहीं है।[312] विद्या से मोक्ष, अमरत्व और स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[313] जीवन की समस्त बाधाएँ और कठिनाइयाँ ज्ञान के कारण समाप्त हो जाती है। इसीलिए कहा गया है कि जिसे ज्ञान का प्रकाश उपलब्ध नहीं, वह नेत्रहीन {अन्धा}

और नरक के अन्धकार में जा गिरता है।[314] इसलिए ऋग्वेद में विद्या को मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार स्वीकार किया गया है।[315] विद्या और ज्ञान की प्राप्ति से ही मनुष्य श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित होता है। विद्या माता की तरह मनुष्य की रक्षा करती है, पिता के सदृश शुभ कार्य में सन्नद्ध करती है, पत्नी के समान खेदों को समाप्त करती है और कल्पलता के सदृश प्रसन्नता प्रदान करती है। समस्त लौकिक सुखों की प्राप्ति विद्या के माध्यम से ही सम्भव है। अत: हमारे ऋषि मुनियों ने शिक्षा का गुणगान किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने भी शिक्षा को समाज के लिए महत्वपूर्ण माना है। महापुराण में विद्या के महत्व को प्रतिपादित करते हुए वर्णित है कि शरीर, अवस्था तथा शील विद्या से विभूषित हो जाने पर मनुष्य जीवन सार्थक हो जाता है। विद्या मनुष्यों का यश, कल्याण तथा मनोरथ पूर्ण करती है। इसलिए विद्या को कामधेनु, चिंतामणि, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) का फल कथित है। विद्या ही मनुष्य का बंधु, मित्र, कल्याणकारी, साथ-साथ जाने वाला धन तथा सब प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है।[317] आदिपुराण में भी उक्त मत को श्रद्धेय स्वीकार किया गया है।[318] जैन महापुराण के शिक्षा संबंधी आदर्श उस समय के जैनेतर साक्ष्यों से भी ज्ञात होता है। राधाकुमुद मुकर्जी का कथन है कि शिक्षा बौद्धिक एवं नैतिक उन्नति प्रदान करती है। धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवन में शिक्षा का विशेष महत्व है।[319] अनन्त सदाशिव अल्तेकर के अनुसार प्राचीन भारत में चरित्र-निर्माण प्रतिभाशाली व्यक्तित्व, संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए शिक्षा को समाज का अनिवार्य अंश माना जाता था।[320]

पुष्पदन्त के महापुराण के परिशीलन से शिक्षा के महत्व का निष्कर्ष यही है कि शिक्षा शरीर, मन एवं आत्मा को समर्थ बनाते हुए अन्तर्निहित श्रेष्ठतम महान गुणों का विकास कर अन्तर्भूत दैवी - गुणों का विकास करती है। सांस्कृतिक

विरासत की प्राप्ति, ज्ञानार्जन, समस्याओं का समाधान, आध्यात्मिक तत्वों का अन्वेषण, मानसिक क्षुधा की शान्ति, कला- कौशल का परिज्ञान, आचार- विचार का परिष्कार, शाश्वत सुख की उपलब्धि, त्याग, संयम, कर्तव्यनिष्ठा, वैयक्तिक जीवन का परिष्कार तथा समाज की उन्नति शिक्षा से ही होती है।[321] शिक्षा से मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास होता है।

शिक्षा सम्बन्धी संस्कार :-

प्राचीन भारतीय परम्परा के समान ही जैन महापुराण में भी शिक्षा संबंधी संस्कारों का वर्णन है। शिक्षा सम्बन्धी प्रमुखत: चार संस्कारों का वर्णन किया जा सकता है जो निम्नवत है -

1- लिपि संस्कार :- जैन महापुराण में अक्षर का ज्ञान बालक को पाँच वर्ष की अवस्था में कराया जाता था। इसके लिए लिपि संस्कार किया जाता था। लिपि संस्कार के पश्चात् ही बच्चे को अक्षर तथा लिपि सिखायी जाती थी। इसका नियम यह था कि यथाशक्ति पूजन कर स्वर्ण की पट्टी पर लिखने के पूर्व हृदय में "श्रुतदेवी" का स्मरण कर दाहिने हाथ से शिशु को वर्णमाला (क) तथा अंकों (इकाई, दहाई आदि) को लिखने का उपदेश दिया जाता था।[322] आदिपुराण में भी उक्त तथ्यों को स्वीकार किया गया है।[323] सिद्ध नम: से मंगलाचरण प्रारम्भ करते थे। यह "सिद्ध मातृका- लिपि" थी,[324] जिसमें स्वर, व्यन्जन समस्त विद्या, विसर्ग, अनुस्वार, उपध्मानीय तथा युग्माक्षर होते थे।[325]

2- उपनयन संस्कार :- बालक की सुव्यवस्थित और सुनियोजित शिक्षा का प्रारम्भ ब्रह्मचर्य आश्रम में उपनयन संस्कार के पश्चात् होता था।[326] जिसमें आचार्य ब्रह्मचारी को एक नये जीवन में दीक्षित करता था जिसे द्वितीय जन्म कहा गया और ब्रह्मचारी को द्विज, जब बालक आठवें वर्ष में प्रवेश करता था तब उसका

विरासत की प्राप्ति, ज्ञानार्जन, समस्याओं का समाधान, आध्यात्मिक तत्वों का अन्वेषण, मानसिक क्षुधा की शान्ति, कला- कौशल का परिज्ञान, आचार- विचार का परिष्कार, शाश्वत सुख की उपलब्धि, त्याग, संयम, कर्तव्यनिष्ठा, वैयक्तिक जीवन का परिष्कार तथा समाज की उन्नति शिक्षा से ही होती है।[321] शिक्षा से मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास होता है।

शिक्षा सम्बन्धी संस्कार :-

प्राचीन भारतीय परम्परा के समान ही जैन महापुराण में भी शिक्षा संबंधी संस्कारों का वर्णन है। शिक्षा सम्बन्धी प्रमुखतः चार संस्कारों का वर्णन किया जा सकता है जो निम्नवत है -

1- लिपि संस्कार :-

जैन महापुराण में अक्षर का ज्ञान बालक को पाँच वर्ष की अवस्था में कराया जाता था। इसके लिए लिपि संस्कार किया जाता था। लिपि संस्कार के पश्चात ही बच्चे को अक्षर तथा लिपि सिखायी जाती थी। इसका नियम यह था कि यथाशक्ति पूजन कर स्वर्ण की पट्टी पर लिखने के पूर्व हृदय में "श्रुतदेवी" का स्मरण कर दाहिने हाथ से शिशु को वर्णमाला (क) तथा अंकों (इकाई, दहाई आदि) को लिखने का उपदेश दिया जाता था।[322] आदिपुराण में भी उक्त तथ्यों को स्वीकार किया गया है।[323] सिद्ध नमः से मंगलाचरण प्रारम्भ करते थे। यह "सित्रयात्रिका- लिपि" थी,[324] जिसमें स्वर, व्यन्जन समस्त विद्या, विसर्ग, अनुस्वार, उपध्यानीय तथा युग्माक्षर होते थे।[325]

2- उपनयन संस्कार :-

बालक की सुव्यवस्थित और सुनियोजित शिक्षा का प्रारम्भ ब्रह्मचर्य आश्रम में उपनयन संस्कार के पश्चात होता था।[326] जिसमें आचार्य ब्रह्मचारी को एक नये जीवन में दीक्षित करता था जिसे द्वितीय जन्म कहा गया और ब्रह्मचारी को द्विज, जब बालक आठवें वर्ष में प्रवेश करता था तब उसका

उपनयन संस्कार किया जाता था। इसमें केशमुण्डन, व्रतबन्ध तथा मौंजी बन्धन क्रियाएँ होती थीं। बालक का विधिवत अध्ययन कार्य इस क्रिया के उपरान्त प्रारम्भ होता था।[327]

3- व्रतचर्या क्रिया :- इसमें विद्यार्थी अपना ध्यान एक मात्र विद्यार्जन की ओर केन्द्रित रखता था।[328]

4- व्रतावन्तरण क्रिया :- इसमें विद्यार्थी जीवन को समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे।[329] आदिपुराण में भी इसे माना गया है।[330] पद्म तथा हरिवंश पुराण में वर्णित है कि इस अवसर पर शिष्य अपने गुरु को गुरुदक्षिणा भी प्रदान करता था।[331]

विद्या प्राप्ति का स्थान :- जैन महापुराण के रचनाकाल में विद्याध्ययन मौखिक एवं लिखित दोनों प्रकार का होता था। जब बालक बाल्यावस्था में होता था तब उसका पिता ही उसका शिक्षक होता था। बालक को प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही उसका पिता प्रदान करता था।[332] पद्मपुराण में वर्णित है कि राज्य की ओर से शिक्षा के लिए विद्यालय होता था।[333] इस पुराण में यह भी वर्णित है कि विद्यार्थी अध्ययनार्थ गुरु के घर जाते थे।[334] जैन महापुराण के रचना- काल के अन्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि उस समय आश्रम या गुरुकुल, विहार तथा मठ में शिक्षा का प्रबन्ध था।[335]

गुरु का महत्व :- वैदिक- युग से आचार्य अथवा गुरु का स्थान देवता के रूप में अत्यन्त आदरयुक्त, गरिमामय और प्रतिष्ठित था। वस्तुत: ऋग्वैदिक आचार्य दिव्य ज्ञान के प्रतीक थे। प्राय: सभी ज्ञान रूपी दीपक आवृत रहता है। गुरु दीपक

के उस आवरण को हटाकर ज्ञान की किरणें विकीर्ण कर देता है।[336] महापुराण में वर्णित है कि गुरु हृदय में रहता है, चूँकि वचन हृदय से निकलते हैं इसलिए वचनों में गुरु संस्कार करते हैं।[337] जैनेतर ग्रन्थों में गुरु को शिष्य का मानस-पिता कहा गया है।[338] हरिवंशपुराण में भी गुरु को महत्वपूर्ण माना गया है।[339]

गुरु के गुण :-

---------- महापुराण में गुरु के गुणों का वर्णन है, उसमें उल्लिखित है कि गुरु सदाचारी, स्थिर बुद्धि वाला, जितेन्द्रिय, सौम्य, भाषण में प्रवीण, प्रतिभा-युक्त, सुबोध, व्याख्यान देने वाला, दयालु, गम्भीर, धर्म के रहस्य का ज्ञाता, अणुव्रती, गुणी, भिक्षा द्वारा आजीविका व्यतीत करने वाला होना चाहिए।[340] पद्मपुराण में भी गुरु के उक्त गुणों को स्वीकार किया गया है।[341]

शिष्य के गुण एवं दोष :-

------------------ आलोचित महापुराण में शिष्य के गुणों के विषय में वर्णित है कि शिष्य में विनयशीलता, अध्ययन एवं अध्यापक के प्रति श्रद्धा, जिज्ञासु वृत्ति, सुश्रूषा, स्मरणशक्ति, संयम एवं अध्यवसाय होना चाहिए।[342] पद्मपुराण में भी उक्त गुणों को स्वीकार किया गया है।[343] महापुराण में शिष्यों के दोषों का वर्णन किया गया है - शिष्यों में विषयी, हिंसक वृत्ति, धूर्तता, कृतघ्नता, उदण्डता, प्रमादी, हठग्राहिता, धारणशक्ति की न्यूनता तथा स्मरणशक्ति का अभाव आदि दुर्गुण कथित हैं।[344] पद्मपुराण में भी वर्णित है कि अपात्र को प्रदत्त विद्या व्यर्थ होती है जैसे सूर्य का प्रकाश उल्लू के लिए व्यर्थ होता है।[345]

गुरु- शिष्य- सम्बन्ध :-

----------------- महापुराण में गुरु- शिष्य के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन प्राप्त होता है। वस्तुत: गुरु- शिष्य में पिता- पुत्र के समान सम्बन्ध होता था। इसी आत्मीयता के कारण गुरु शिष्य से कहता है कि - हे शिष्य ।

तू ही मेरा मन और तू ही मेरी जीभ है।[346] पद्मपुराण में भी गुरु- शिष्य के आत्मिक सम्बन्ध का उल्लेख मिलता है।[347] महापुराण में वर्णित है कि गुरु योग्य शिष्य को अपना उत्तराधिकारी बनाता था।[348]

गुरु सेवा एवं गुरु- दक्षिणा :- आलोचित महापुराण में गुरु- सेवा पर प्रकाश पड़ता है। सामान्य से राजपुत्र तक सभी शिष्य गुरु की सेवा करते थे।[349] पद्म- पुराण में भी शिष्यों द्वारा गुरु- सेवा का वर्णन प्राप्त होता है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि उस समय समाज में गुरु- सेवा सभी शिष्यों के लिए अनिवार्य थी।[350] महापुराण में यथाशक्ति गुरुदक्षिणा देने का विधान भी विहित है। परन्तु गुरुदक्षिणा के लिए कोई सीमा निर्धारित नहीं की गयी थी।[351] जैनियों के अन्य पुराणों से भी यथाशक्ति गुरुदक्षिणा का वर्णन मिलता है।[352]

स्त्री- शिक्षा :- जैन महापुराण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियों को भी शिक्षा प्रदान की जाती थी।[353] जैनाचार्यों ने पुत्र के समान पुत्रियों की शिक्षा पर बल दिया है।[354] हरिवंशपुराण में कन्याओं को शास्त्रों में पारंगत तथा प्रतियोगिता में विजयी प्रदर्शित किया गया है।[355] जैन महापुराण में वर्णित है कि लड़कियाँ गणित, व्याकरण, छन्द एवं अलंकारशास्त्र सभी विद्याओं में निपुण होती थीं।[356] अतः स्पष्ट हो जाता है कि जैन महापुराण में स्त्री- शिक्षा का विशेष प्रचार- प्रसार था।

पाठ्यक्रम :-

जैन महापुराण में चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद), शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्ति, इतिहास, पुराण, मीमांसा, न्यायशास्त्र, कामशास्त्र, लक्षणशास्त्र, कलाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र आदि का वर्णन है।[357] बाणभट्ट ने कादम्बरी में पैंतालिस विषय, दण्डिन ने बारह और राजशेखर ने इकहत्तर विषयों का वर्णन किया है।[358]

साहित्य :-

--------- प्राचीन भारतीय वाङ्मय में जैन साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। जैन महापुराण के अनुशीलन से साहित्य के विषय में निम्न जानकारी प्राप्त होती है -

लिपि :-

------- जैन महापुराण के वर्णन से ज्ञात होता है कि उस समय कुटिल लिपि, शारदा लिपि, नागरी लिपि और सिद्धमात्रिका लिपि थी[359]। महापुराण के वर्णन के आधार पर यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि सातवीं से बारहवीं शताब्दी ई0 तक भारत में जिन लिपियों का विकास हुआ था उसमें सिद्ध-मात्रिका का विशिष्ट स्थान था[360]। अन्य ग्रन्थों से भी सिद्धमात्रिका लिपि का वर्णन प्राप्त होता है[361]। सर्वप्रथम पाश्चात्य पुराविद एवं भारतीय लिपियों के समीक्षक जर्मन विद्वान ब्यूलर ने सिद्धमात्रिका-लिपि का उल्लेख किया था[362]।

पुराण :-

------- पुराण को महापुराण में इतिहास, इतिवृत्त तथा ऐतिह्य कहा गया है[363]। अत्यन्त प्राचीन होने के कारण इन्हें पुराण संज्ञा से अभिहित किया गया है।

वाङ्मय :-

--------- व्याकरण, छन्द तथा अलंकारशास्त्रों को वाङ्मय की संज्ञा से अभिहित किया गया है[364]।

पहेली :-

------- आलोचित महापुराण में निम्नांकित पहेलियों का उल्लेख किया जा सकता है - अन्तर्लापिका, एकालपक, वहिर्लापिका, क्रियागोपिता, प्रश्न, विन्दुमान, विन्दुच्युतक, मात्राच्युतक प्रश्न, व्यन्जनच्युतक, अक्षरच्युतक, प्रश्नोत्तर आदि पहेलियाँ थीं।[365]

गणित :-

------- उस समय गणित का अत्यधिक प्रचार-प्रसार था। महापुराण में गणितार्थ "सांख्यिकी" शब्द व्यवहृत हुआ है[366]। अतः स्पष्ट हो जाता है कि उस समय गणित एवं सांख्यिकी समानार्थी थे।

अर्थशास्त्र :-

पुष्पदन्त महापुराण में अर्थशास्त्र की अत्यधिक महत्ता थी।[367] ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समान जैनियों ने भी अर्थशास्त्र की रचना की थी।

कामशास्त्र :-

कामविषयक शास्त्र का निर्माण किया गया था। इसमें लालित्य की प्रधानता थी।[368] आदिपुराण से भी यही इंगित होता है।[369]

गान्धर्वशास्त्र :-

संगीतशास्त्र से सम्बन्धित गान्धर्वशास्त्र की रचना हुई थी जिसमें 100 से अधिक अध्याय थे परन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसमें संगीत के सिद्धांत प्रतिपादित थे।[370]

चित्रकला :-

चित्रकला में भी एक सौ से अधिक अध्याय थे।[371]

वास्तु एवं स्थापत्य कला :-

इसमें मूर्तियों एवं मकान आदि के निर्माण में सुविधा रहती थी।[372] आदिपुराण में भी यही वर्णन मिलता है।[373]

नाटक :-

महापुराण में वर्णित है कि किसी के द्वारा किये हुए कार्य का अनुकरण करना नाटक है।[374] उक्त महापुराणानुसार नाटक से धर्म, अर्थ एवं काम इन तीन पुरुषार्थों की सिद्धि तथा परमानन्द रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।[375] आदिपुराण में भी इन्हीं तथ्यों को माना गया है।[376] जैन महापुराण में नाटक के पात्रों में नट, नटी, नर्तकियाँ, भाण आदि होते थे।[377] आदिपुराण में भी उक्त पात्र होते थे।[378]

चिकित्साशास्त्र :-

पुष्पदन्त के महापुराण में चिकित्साशास्त्र का वर्णन प्राप्य है। इसमें शारीरिक चिकित्सा मुख्य रूप से उल्लेखनीय है।[379] अन्य पुराणों से भी शारीरिक चिकित्सा का प्रमाण मिलता है।[380] वात, पित्त तथा कफ को जैन महापुराण में रोग का कारण माना गया है।[381]

ज्योतिषशास्त्र :-

प्राचीन काल से ही हमारे देश में ज्योतिष का प्रचलन रहा है। ज्योतिषी ग्रहों की गणना करके ज्योतिश्चक्र द्वारा ग्रहों की स्थिति ज्ञात करते थे। ऋषिगण भविष्यवाणी करके भूत, वर्तमान तथा भविष्य जीवन का फल कथित करते थे।[382] निमित्त ज्ञान को ज्योतिष ज्ञान कहते हैं।[383] आदिपुराण से भी यही प्रतीत होता है।[384]

ग्रहों की स्थिति के आधार पर भाग्यफल निर्धारित किया जाता था। चन्द्र, सूर्य, समुद्र, मच्छ, कच्छप आदि शुभ लक्षण हैं, जिस व्यक्ति के चरणतल में यह पाया जाता है, उसे भाग्यशाली पुरुष मानना चाहिए।[385]

खगोलशास्त्र :-

महापुराण में सूर्य-ग्रहण, चन्द्रग्रहण, ग्रहों का स्थानान्तरण, दिन तथा रात्रि आदि वर्णन है।[386] इस उक्त महापुराण में तारा तथा ध्रुव का भी उल्लेख मिलता है।[387] मुनियों तथा विद्याधरों को आकाशगामी वर्णित किया गया है।[388] अन्य पुराणों में भी उक्त मान्यताओं को स्वीकार किया गया है।[389] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि महापुराण में विज्ञान का प्रचलन था।

अन्य शास्त्र :-

पुष्पदन्त के महापुराण में अन्य विद्याओं का उल्लेख मिलता है। नीतिशास्त्र,[390] उपकरण निर्माण शास्त्र,[391] गीतवाद्य लक्षण शास्त्र,[392] दर्शनशास्त्र,[393] और रत्न- परीक्षा शास्त्र[394] आदि। पद्मपुराण में भी उक्त मतों को स्वीकार किया गया है।[395]

स्त्रियों की स्थिति -

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। हिन्दू समाज में उनका सम्मान और आदर प्राचीनकाल से आदर्शात्मक और

मर्यादायुक्त था। उनकी अवस्था पुरूषों के सदृश थी। उन्हें विवाह, शिक्षा, सम्पत्ति आदि में अधिकार प्राप्त थे परन्तु पुष्पदन्त के महापुराण में उनकी स्थिति गिरी हुई थी। वे नैतिक और आध्यात्मिक रूप से पतनोन्मुख मानी गई थी। पारम्परिक मान्यता के अनुसार उन्हें निर्बल और निष्क्रिय नैतिक कलिकर्म का प्रतीक माना जाता था।[396] नैतिक और आध्यात्मिक पुष्टि से पृथक् होकर यदि धार्मिक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि वे आलोच्य काल के बहुत पूर्व ही उपनयन संस्कार के लिए अनुपयुक्त मानी जाती थी। ऐसी परिस्थिति में उन्हें शूद्रों की श्रेणी में रखा जाता था। और उनकी स्थिति दिन- प्रतिदिन गिरती गई। हमारे आलोचित महापुराण से ज्ञात होता है कि जैन सम्प्रदाय ने उनकी स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न किया था। जैन महापुराण ने स्त्रियों के लिए भी उपनयन संस्कार को एक अपेक्षित क्रिया बताया है।

प्राचीन काल के पितृ- प्रधान संस्कृतियों के समाज में कन्या का जन्म दुःख का कारण था। इसलिए वहाँ पुत्री की अपेक्षा पुत्र को विशेष स्थान दिया गया था तथा पुत्र को परिवार की स्थायी सम्पत्ति समझा जाता था।[397] कालांतर में परिस्थितियों में परिवर्तन आया। महापुराण के अनुशीलन से उस समय की स्त्रियों की सामान्य स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।[398] पद्मपुराण में पत्नी को पति के अधीन परतन्त्र रखा गया था, जिससे पति के इच्छा के विपरीत वह कोई क नहीं कर सकती थी[399] परन्तु महापुराण में पत्नी परतन्त्र नहीं थी। वह पति का स्वयं वरण कर उसके कार्यों में सहयोग देती थी।[400]

स्त्रियों के गुण एवं दोष :- जैन महापुराण से ज्ञात होता है कि स्त्रियों का सर्वप्रधान गुण [illegible]धर्म था, जिसके प्रभाव से वे स्वर्ग की अधिकारिणी हो जाती थी। इतना ही नहीं वे अपने कुल की मर्यादा की रक्षा के लिए अपने

कुलहीन पति का त्याग भी कर देती थी।[401] पद्मपुराण में भी वर्णित है कि पतिव्रता स्त्री के शरीर को चाहे छेद डालो या भेद कर डालो या काट डालो, परन्तु वह अपने भर्ता के अतिरिक्त अन्य पुरुष को मन में भी नहीं ला सकती थी।[402] आदिपुराण से भी स्त्रियों के पातिव्रतधर्म का वर्णन मिलता है।[403]

पुष्पदन्त के महापुराण में जहाँ एक ओर स्त्रियों के गुणों की प्रशंसा की गई है वहीं दूसरी ओर उनके दुर्गुणों का भी सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। स्त्रियाँ स्वभावत: चंचल, कपटी, क्रोधी और मायाचारिणी होती हैं। पुरुषों को स्त्रियों की बातों पर विश्वास न कर विचारपूर्वक कार्य करने पर बल दिया गया है। वासना के आवेश में आकर नारियाँ धर्म का परित्याग भी कर देती हैं।[404] स्त्रियाँ दोषों की माताएँ एवं सर्पिणी के समान हैं।[405] स्त्रियाँ उत्पत्ति मात्र से विषकन्या और अनार्य होती हैं।[406] पाण्डवपुराण के अनुसार स्त्रियाँ अपने कुल को गिराती हैं।[407] पद्मपुराण में वर्णित है कि स्त्रियाँ स्वभाव से ही कुटिल होती हैं इसलिए उनका चित्त परपुरुष में लगा रहता है।[408] यही कारण है कि सभी स्त्रियों में सदाचार नहीं पाया जाता।[409]

विभिन्न रूपों में स्त्रियों की स्थिति :-

पुष्पदन्त के महापुराण में स्त्रियों को कन्या, पत्नी, माता, विधवा, वीरांगना, सेविका, वेश्या आदि रूपों में वर्णित किया जा सकता है। महापुराण में वर्णित है कि माता-पिता अपनी कन्याओं का लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा एवं देखभाल पुत्रों के समान ही किया करते थे।[410] यही कारण है कि जैन महापुराण में कन्या की महत्ता प्रदर्शित करते हुए वर्णित है कि कन्यारत्न से श्रेष्ठ अन्य कोई रत्न नहीं है।[411] जैनेतर मत्स्य पुराण में भी शील सम्पन्न कन्या को दस पुत्रों के समान माना गया है।[412] कन्याओं को परिवार की सम्पत्ति में

भी सीमित अधिकार था।[413] जैनेतर साक्ष्यों से भी ज्ञात होता है कि पुत्राभाव में ही पिता के धन पर पुत्री का स्वत्व सम्भव था।[414] महापुराण में वर्णित है कि पिता की सम्पत्ति पर पुत्र के समान पुत्री का भी अधिकार होता था।

पत्नी के विषय में महापुराणों में उल्लिखित है कि सुन्दर स्त्री विचित्र पदन्यास अर्थात् अनेक प्रकार से चरण रखने वाली, रसिका एवं सालंकार होकर अपने पति का अनुरन्जन करती थी।[415] पद्मपुराण एवं आदिपुराण में उल्लिखित है कि कुलांगनाएँ अपने पति के मार्गों का अनुसरण करती थीं।[416]

माता को महापुराण में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। महापुराण में माता की महत्ता का वर्णन करती हुई इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी का कथन है कि हे माता ! तू तीनों लोकों की कल्याणकारिणी माता है, तू ही मंगलकारणी है, तू ही महादेवी है, तू ही पुण्यवती है और तू ही यशस्विनी है।[417] पद्मपुराण में भी माता को सर्वोच्च माना गया है।[418] मनु भी माता को पिता की अपेक्षा सहस्र गुण उच्चतर मानता है।[419]

महापुराण में वर्णित है कि कभी-कभी पति के मरने पर स्त्रियाँ तलवार से आत्महत्या कर लेती थीं।[420] कुछ स्त्रियाँ पति के मरने पर दुःख को समेट कर अवशेष जीवन को व्रतोपवास पूजा-अर्चना द्वारा जिन व्रत धारण कर जिनेन्द्र की सेवा द्वारा अपना परलोक सिद्ध करती थी और सुख साधनों का परित्याग कर सादगी का जीवन व्यतीत करती थी। विधवा स्त्रियाँ कोई भी आभूषण नहीं धारण करती थीं।[421] आलोचित महापुराण के उक्त कथन की पुष्टि जैनेतर पुराणों से भी होती है।[422]

पुष्पदन्त के महापुराण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय समाज में सेविकाएँ थीं जिनका महत्वपूर्ण स्थान था। इन्हें तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है

1- सामान्य धात्री :- महापुराण में वर्णित है कि राजपरिवारों एवं समाज के सम्पन्न व्यक्तियों के बच्चों के लालन- पालन का पूरा उत्तरदायित्व धात्री या धाय के ऊपर रहता था। रानी तो मात्र शिशु को जन्म देती थी।[423]

2- दासी :- घरेलू काम करने के लिए दासी होती थी।[424]

3- परिचारिका :- इसका कार्य था नायक- नायिकाओं को मिलाने, श्रृंगार आदि करने, मनोविनोद करने, समाचार देने, रूठने पर मिलाने आदि।[425]

वेश्याओं के विषय में भी महापुराण में वर्णन उपलब्ध है। वेश्याओं के दो वर्ग थे - गीत, नृत्य द्वारा आजीविकोपार्जन और अपना शरीर बेचकर जीविकार्जन करने वाली। प्रथम जो वेश्याएँ नृत्य-गीत द्वारा आजीविका चलाती थीं उन्हें वारांगना कहा गया । विवाह, उत्सव, जन्म, राज्याभिषेक आदि शुभावसरों पर अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करती थी। वे शुभ की प्रतीक थीं और समाज में उनका सम्मानपूर्ण स्थान था।[426] द्वितीय प्रकार की वेश्याएँ शरीर बेचकर जीवन निर्वाह करती थीं। महापुराणों में वर्णित है कि नदी के समान वेश्याएँ विशिष्ट पाप के सहित, ग्राहवती {धन संचय करने वाली}, कुटिलवृत्ति {मायाचारिणी}, अलघ्य {विषयी मनुष्यों द्वारा वशीभूत}, सर्वभोग्या {ऊँच- नीच मनुष्यों द्वारा भोग्य योग्य}, विचित्रा { अनेक वर्ण की } एवं निम्नगा { नीच पुरुषों की ओर जाने वाली} होती थी।[427] हरिवंशपुराण में भी उक्त तथ्यों को स्वीकार किया गया है।[428]

बहुपत्नी प्रथा :- महापुराण के काल में एक से अधिक पत्नी रखने का उल्लेख प्राप्य है। उदाहरणार्थ श्रीकृष्ण के अन्तःपुर में आठ पटरानियाँ थी, भरत के पास 96,000 रानियाँ थी, लक्ष्मण के पास 16,000 रानियाँ तथा आठ पटरानियाँ थीं, राम के पास 8,000 रानियाँ तथा चार पटरानियाँ थीं, रावण के पास

18,000 रानियाँ थीं।[429] ये वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण कहे जा सकते हैं तथापि राजाओं के पास एक से अधिक रानियाँ होती थीं। पी0 टामस का विचार है कि इन स्त्रियों को राजा लोग विवाह कर, क्रय कर अथवा जबरदस्ती पकड़वाकर अपने राजमहल के अन्त:पुर में रखते थे।[430]

पर्दा प्रथा :-

पुष्पदन्त के महापुराण में स्त्रियों को घूँघट रखने का विधान वर्णित है।[431] जैनेतर पुराणों में पर्दा प्रथा के प्रचलन एवं अप्रचलन दोनों ही प्रकार के स्थल प्राप्य हैं।[432]

एक ओर हम देखते हैं कि महाकाव्यों में राजपरिवार की स्त्रियाँ पर्दे में रहती थी। इसका उद्देश्य यह था कि रानियों को सामान्य लोग सामान्य रूप से न देख सकें। भास ने अपने प्रतिमानाटक में सीता को घूँघट धारण किये हुए दिखाया है। महाकवि कालिदास ने शकुन्तला को राजा दुष्यन्त के राज दरबार में भेजते समय घूँघट डालकर कुलीनता पर प्रकाश डाला है। दूसरी ओर दृष्टि डालने पर ऐसा ज्ञात होता है कि सातवीं शती ईस्वी के चीनी यात्री युवान-च्वांग ने पर्दा प्रथा का उल्लेख नहीं किया है। हर्ष के दरबार में उसकी बहन राज्यश्री बिना पर्दे के आयी थी। दसवीं शती के अरब यात्री अबू जैद ने दरबार में बिना पर्दे की स्त्रियों का उल्लेख किया है। कथासरित्सागर में पर्दा प्रथा का उल्लेख अनुपलब्ध है। पर्दा प्रथा 1000 ई0 तक कुछ राजपरिवारों तक ही सीमित थी। वस्तुत: हिन्दुओं में पर्दा प्रथा का प्रचलन मुसलमानों के आगमन से सम्यक् रूप से प्रारम्भ होता है।[433]

तलाक प्रथा :-

महापुराण में उल्लिखित है कि पति- पत्नी में वैमनस्य के फल-स्वरूप कभी- कभी पत्नी पर-पुरूष के साथ रमण करती थी।[434] अन्तत: इस अनुचित के परिणामस्वरूप वह अपने पति की हत्या भी कराती थी।[435] यदि पति को पत्नी के विषय में यह ज्ञात हो जाता था कि उसका किसी पुरूष से अनुचित सम्बन्ध है तो वह उसे घर से निकाल देता था।[436] पद्मपुराण में भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।[437]

सती प्रथा :-

जो स्त्री अपनी सत्ता को नित्य स्थिर रखे वह सती है अर्थात् जिसे पति के साथ अपने शरीर को भस्म कर लिया है। जैन महापुराण के परिशीलन से सतीप्रथा का प्रचलन ज्ञात होता है। महापुराण में निरूपित है कि पति के युद्धस्थल में वीर गति प्राप्त करने पर पत्नियाँ जौहर- व्रत का पालन करती थी अर्थात् उनके मृत शरीर के साथ चिता में भस्म हो जाती थीं।[438] इसी पुराण में अन्यत्र वर्णित है कि पति के मरने पर कभी- कभी पत्नियाँ आत्महत्या भी करती थीं।[439] सती प्रथा के प्रचलन का प्रमाण पुरातात्त्विक अन्वेषणों से ज्ञात होता है। एरण के अभिलेख में गोपराज की पत्नी अपने मृत पति का अग्निराशि में अनुगमन किया था।[440] चंगुनारायण के स्तम्भ लेख के अनुसार नृप- पत्नी राज्यवती दिवंगत पति के साथ सती हुई थी।[441] क्षत्रियों में सतीप्रथा का प्रचलन 400 ई0 में हो गया था। राजपूताना जो मध्यकाल में सतीप्रथा के लिए प्रसिद्ध था से सबसे प्रारम्भिक सती पत्थर 838 ई0 के पूर्व का नहीं मिलता। जोधपुर में 950 ई0 के बाद यह प्रथा प्रारम्भ होती है। उत्तरी भारत में सती प्रथा 1000 ई0 तक बहुत कम प्रचलित थी।[442] अतः स्पष्ट हो जाता है कि महापुराण के काल में सती प्रथा प्रचलित थी।

दासों की स्थिति :-

महापुराण के रचनाकाल में गृहपरिचारक अथवा गृहपरिचारिका दासों की ही कोटि में परिगणित किये जाते थे।[443] कहीं तो इनमें दास दासी[444] अथवा घट- दासी[445] का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, और कहीं इन्हें धाय,[446] दूती[447] तथा परिचारिका[448] शब्द भी अभिहित किया गया है। लुडविग का कथन है कि इस समयावधि में गृह- परिचारक भी दासों की भाँति पराधीन स्थिति में विद्यमान थे।[449] मनु ने सात प्रकार के दासों का वर्णन किया है - युद्ध में बन्दी बनाया गया ध्वजाहृत,

भोजन के बदले रखा हुआ §भुक्तदास§, दासीपुत्र §गृह्ज§, खरीदा हुआ §क्रीत§, दूसरे के द्वारा दिया हुआ §दात्रिम§, पूर्वजों से प्राप्त §पैतृक§ और भुगतान के लिए बना हुआ §दण्डदास§।[450]

वासुदेव उपाध्याय के मतानुसार भृत्यों और दासों में इतना अन्तर था कि भृत्य नौकरी करते हुए भी स्वतन्त्र थे, परन्तु दास परतन्त्र होते थे तथा वे जो कुछ वर्णन करते थे, वह उनके स्वामी का होता था।[451]

दास प्रथा का उल्लेख महापुराण में भी मिलता है। उक्त महापुराण के अनुसार सेवक का यह कर्त्तव्य था कि वह स्वामी के अनुसार चले तथा उसके मुट्ठियों से दिये हुए अन्न से जीवन निर्वाह करे।[452]

पुष्पदन्त के महापुराण में स्वामी के हितार्थ सेवक द्वारा आत्मोत्सर्ग किया जाना उसका उचित कर्त्तव्य माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि उदार हृदय स्वामी अपने सेवक का समुचित सम्मान भी करता था। इस ग्रंथ का कथन है कि स्वामी द्वारा सत्कृत होने पर सेवक जितना सन्तुष्ट होता है उतना प्रचुर मात्रा में धनराशि देने पर भी नहीं होता।[453] हरिवंशपुराण के अनुसार अपने- अपने नियोगों पर अच्छी तरह स्थिर रहना ही भृत्यों की स्वामी सेवा है।[454] पद्मपुराण में वर्णित है कि संभ्रमदेव ने अपनी दासी के कूट तथा कार्पटिक नामक दो पुत्रों को जैन मन्दिर में नियुक्त किया था।[455] इससे स्पष्ट होता है कि स्वामी का अपने दास या दासियों के बच्चों पर भी अधिकार रहता था।

महापुराण में उद्धृत है कि दासों का एक ऐसा वर्ग भी था जो स्वामी के परिवार का अंग नहीं था और इस कोटि के दास बेगार §विस्टी§ के लिए बाध्य किये जाते थे।[456] इस सन्दर्भ में आर० एस० शर्मा का मत है कि दास और कर्मकार से बेगार लेने की प्रथा मौर्यकाल से ही थी और आगे चलकर बेगार ही वैश्य तथा शूद्र की पृथकता का मापदण्ड बन गया।[457] प्राचीनकाल में बेगार प्रथा

का प्रचलन था।[458] ऐसा प्रतीत होता है कि महापुराण के रचनाकाल में दासों की स्थिति में सुधार लाने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो चुकी थी जिनके प्रमाण इन ग्रन्थों में अनेकत्र प्राप्त होते हैं। आलोचित महापुराण बारम्बार सेवावृत्ति की निन्दा करते हैं। पद्मपुराण में भी इसे दुःख और निन्दा का विषय बताया गया है।[459] इसमें यह भी वर्णित है कि मनुष्य को भृत्य का जीवन इसलिए नहीं स्वीकार करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वस्तुतः वह अपनी शक्ति से वंचित होता ही है और इसके अतिरिक्त वह प्रकारान्त से अपने मांस का विक्रय करता है।[460] तथा उसकी तुलना कचड़ाघर से की गयी है।[461] पुराणकार ने भृत्य- वृत्ति को सभी प्रकार से निन्दनीय बताया है।[462]

आर्थिक स्थिति -

प्राचीन काल से समाज का उत्कर्ष मनुष्य के आर्थिक जीवन की सम्पन्नता समुन्नति और सुख- सुविधा पर निर्भर करता रहा है। व्यक्ति का भौतिक और लौकिक सुख उसके जीवन के आर्थिक विकास से प्रभावित होता रहा है। अतः मानव जीवन में अर्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। आलोचित महापुराण के अनुशीलन से अर्थ की महत्ता, उसके उपार्जन के साधन, इसकी सुरक्षा एवं संवर्धन तथा समुचित भोगोपभोग पर प्रकाश पड़ता है, जो निम्न रूप में वर्णित किया जा सकता है-

आर्थिक समृद्धता :- पुष्पदन्त के महापुराण में निवृत्तिमूलक एवं प्रवृत्तिमूलक इन दो विचारधाराओं में परस्पर सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। जैन दर्शन मुख्यतया निवृत्तमूलक है किन्तु व्यावहारिक जगत में जैन चिन्तकों एवं मनीषियों ने प्रवृत्ति मार्ग को निरुत्साहित नहीं किया है। महापुराण में इस बात पर बल देता है कि अर्थाजन मनुष्य का सोद्देश्य है।[463] आदिपुराण भी इसी बात पर बल देता है।[464] सामान्य जन-जीवन का स्वरूप क्या था? यह तो अच्छी तरह ज्ञात नहीं है परन्तु चक्रवर्ती राजा के जो

चौदह रत्न [चक्र, छत्र, खड्ग, दण्ड, काकिणी, मणि, चर्म, गृहपति, सेनापति, हस्ती, अश्व, पुरोहित, स्थपति, तथा स्त्री] गिनाये गये हैं, उनसे यही प्रतीत होता है कि राजकीय जीवन में आर्थिक समृद्धि पर विशेष बल दिया जाता था।[465] आदिपुराण और पद्मपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[466] महापुराण में वर्णित है कि आर्थिक समृद्धि का परिवेश उसी स्थिति में सम्भव है, जबकि राजा धर्म के पथ का उल्लंघन न करे।[467] पद्मपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[468] जैन पुराणों के प्रणयन-काल के समराइच्चकहा में त्रिवर्ग [धर्म, अर्थ एवं काम] को भौतिक सुखों का मूलाधार बताया गया है।[469]

आलोचित महापुराण में वर्णित है कि उस समय सर्वाधिक महत्ता अर्थ की थी।[470]

अर्थोपार्जन और धर्मानुकूलता :-

पुष्पदन्त के महापुराण में न्यायपूर्वक जीविकोपार्जन पर विशेष बल दिया गया है। मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त होती है अतः उनका पूर्णरूप से पूर्ण होना असम्भव है क्योंकि उनकी पूर्ति के साधन अत्यल्प हैं। इसलिए अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही संतोष करना चाहिए। विवेक एवं न्यायपूर्वक अर्जित साधन से ही इच्छा की पूर्ति करनी चाहिए। न्यायपूर्वक धनार्जन करना ही जीवन को सुख की ओर संतुष्ट बनाने का एक मात्र मार्ग है।[471] आदिपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[472] महापुराण के अनुसार कामनाओं की पूर्ति का साधन अर्थ है और अर्थ की उपलब्धि धर्म से होती है। इसलिए धर्मोचित अर्थोपार्जन से इच्छानुसार सुख की प्राप्ति होती है और उससे मनुष्य प्रसन्न रहते हैं।[473]

श्रम विभाजन :-

जैनाचार्यों ने मनुष्यों का गुणकर्मानुसार विभाजन कर उनके श्रम को भी विभाजित किया था। समाज के व्यवस्थापकों ने समाज में वर्ग

संघर्ष और व्यवसाय की प्रतिस्पर्धा को कम करने के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था[474] का प्रतिपादन किया था। सभी लोगों को अपने- अपने वर्णानुसार स्वपैतृक व्यवसाय को करने से रोजगार के लिए संघर्ष नहीं होता था और कार्य की कुशलता में भी संवृद्धि होती थी, इसीलिए महापुराण में वर्णित है कि प्रजा अपने- अपने योग्य कार्यों को सम्पादित करे जिससे उनकी आजीविका में वर्णों का सम्मिश्रण न हो सके।[475] आदिपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[476]

ग्रामीण अर्थव्यवस्था :-
------------------ महापुराण में वर्णित है कि जिसमें बाड़े से परिवेष्ठित घर हों, अधिकतर शूद्र और किसान रहते हों तथा जो उद्यान एवं सरोवरों से संयुक्त हों, उसे ग्राम कहते हैं।[477] हमारे आलोचित जैनपुराणों के रचनाकाल में समाज की अर्थव्यवस्था के मूलाधार ग्राम थे। महापुराण में वर्णित है कि उस समय गाँव बहुत बड़े- बड़े होते थे। बड़े गाँव में पाँच सौ और छोटे गाँव में दो सौ घर होते थे। इन गाँवों में धान के खेत सदा सम्पन्न रहते थे और जल एवं घास भी अधिक होती थी। गाँवों की सीमा नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान, क्षीरवृक्ष, बबूल आदि कटीले वृक्ष, वन एवं पुल आदि से निर्धारित होती थी।[478] इसी पुराण में वर्णित है कि गाँवों में लोहार नाई, दर्जी, धोबी, बढ़ई, राजगीर, कर्मकार, वैद्य पण्डित, क्षत्रिय आदि व्यवसाय एवं वर्ण के सभी व्यक्ति निवास करते थे। ये विविध व्यावसायिक व्यक्ति अपने- अपने कार्यों द्वारा एक दूसरे का काम करके गाँव की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे एवं गाँव को स्वावलम्बी बनाते थे। गाँव आत्म-निर्भर, सहयोगी एवं जनतंत्रीय होते थे।[479] पद्मपुराण में ग्रामों को अत्यन्त मनोरम बतलाया गया है।[480] तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के मूलाधार निःसन्देह गाँव ही थे।

आजीविका के साधन :-

महापुराण में मानव की आजीविका हेतु छः प्रमुख साधनों का उल्लेख हुआ है जिसमें असि (शस्त्रास्त्र), मषि (लेखन या लिपिक वृत्ति), कृषि (खेती और पशुपालन), शिल्प (कारीगरी एवं कलाकौशल) विद्या (व्यवसाय) एवं वाणिज्य (व्यापार) हैं।[481] आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के समय प्रजा वाणिज्य एवं शिल्प से रहित थी।[482]

असि वृत्ति :-

महापुराण में वर्णित है कि क्षत्रियों को शस्त्र शक्ति से अपनी आजीविका चलाने की व्यवस्था थी।[483] पद्मपुराण में उल्लिखित है कि समाज में कुछ लोग शस्त्रास्त्र के माध्यम से अपनी आजीविका चलाते थे, इसके अन्तर्गत सैनिक, पुलिस, रक्षक आदि आते हैं। ये देश, समाज एवं व्यक्ति को शत्रुओं तथा असामाजिक तत्वों से सुरक्षा प्रदान करते थे।[484]

मसि वृत्ति :-

इसके अन्तर्गत लेखक आते हैं। ये लोग राजाओं के यहाँ सरकारी लिखा पढ़ी का कार्य करते थे। कौटिल्य ने लिपिकों की योग्यता, गुण एवं कर्त्तव्यों का विस्तारशः विवेचन किया है।[485] महापुराण में मषि वृत्ति का विवरण प्राप्य है।[486]

कृषि और पशुपालन -

प्राचीन काल से ही कृषि और पशुपालन लोगों की जीविका का मुख्य साधन था। महापुराण में भी कृषि और पशुपालन को जीविका का प्रधान उद्देश्य माना गया। इसका विवरण निम्नवत् किया जा सकता है -

कृषि :-

प्राचीन काल में भारत में कृषि लोगों के जीवन का मूलाधार था। आधुनिक समय में भी अधिकांशतः व्यक्ति स्वाजीविकार्थ कृषि पर ही निर्भर हैं। पर्वतीय एवं ऊँची- नीची भूमि को समतल कर जंगलों को साफ कर एवं भूमि को खोदकर कृषि- कार्य सम्पन्न किया जाता है।[487] जैन पुराणों के लिए क्षेत्र शब्द

व्यवहृत हुआ है एवं खेत को हल के अग्रभाग से जोतते थे।[488] हमारे पुराणों के रचनाकाल में हल प्रतिष्ठा का द्योतक माना जाता था। जैनेतर ग्रन्थों में हल के अतिरिक्त अन्य कृषि यन्त्रों में हेंगा ॥ मत्य और कोटीश ॥, खनित्र ॥अवदारण ॥, गोदारण ॥ कुन्दाल ॥, खुरपी, दात्र, लवित्र ॥असिद॥, हँसिया आदि का प्रयोग करने का उल्लेख हुआ है।[489] जैन महापुराण में खेतों के दो प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है -

1- उपजाऊ :-
------------ उपजाऊ भूमि में बीज बोने से अति उत्तम फसल उत्पन्न होती थी।[490]

2- अनुपजाऊ :-
------------ ऊसर या खिल ॥ अनुपजाऊ ॥ भूमि ॥खेत॥ में बोया गया बीज समूल नष्ट हो जाता था।[491] महापुराण के अनुसार राजा कृषि की उन्नति के लिए खाद, कृषि उपकरण, बीज आदि प्रदान कर खेती कराता था।[492]

जैन पुराणों में कृषक को कर्षक[493] और हलवाहक को कीनाश[494] शब्द से सम्बोधित किया गया है। कृषक हल, बैल और कृषि के अन्य औजारों के माध्यम से खेती करते थे। गंगोपाध्याय ने एग्रिकल्चर ऐण्ड एग्रीकल्चरिस्ट इन ऐंशेंट इण्डिया में गोबर की खाद को खेती के लिए अत्यन्त लाभप्रद माना है।[495] महापुराण में सिंचाई के दो प्रकार के साधनों का वर्णन आया है - अदेवमातृका- नहर, नदी आदि कृत्रिम साधनों से सिंचाई व्यवस्था और देवमातृका - वर्षा के जल से सिंचाई व्यवस्था।[496] फसलों के पक जाने पर उसकी कटाई कर उसे खलिहान में एकत्रित करते थे, फिर बैलों से दँवरी चलाकर मड़ाई की जाती थी। पुष्पदन्त के महापुराण में निम्नलिखित प्रमुख अनाजों का उल्लेख मिलता है - ब्रीहि, साठी, कलम, चावल, यव ॥जौ॥, गोधूम ॥ गेहूँ॥, कंगनी ॥कंगव॥, श्यामक ॥साँवा॥, तिल, तस्या ॥अलसी॥, मसूर, सर्षप ॥सरसों॥, धान्य ॥धनिया॥, मुदग्माषा ॥ मूँग ॥, ढकी ॥अरहर॥, माष ॥उड़द॥, निष्पावक ॥चना॥, इक्षु ॥ईख॥ आदि।[497]

पशुपालन :-

पुष्पदन्त के महापुराण के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय पशुपालन उन्नति दशा में था। गाय और भैंस से युक्त परिवार को महापुराण में सुखी एवं सम्पन्न माना गया है।[498] अन्य पुराणों से भी इसकी पुष्टि होती है।[499] जैन महापुराण में गाय को विशेष स्थान प्राप्त है और घोड़े तथा हाथी को सवारी के योग्य माना गया है।[500]

उपर्युक्त तथ्यों का अवलोकन करने पर यह प्रश्न उठता है कि महापुराण के समय में कृषिवृत्ति से किस विशेष जाति अथवा वर्ग का सम्बन्ध था? इस विषय पर आधुनिक विद्वानों का मत है कि इस काल में कृषि- कार्य यथार्थतः कर्षण कार्य शूद्र ही करते थे।[501] ह्वेनसांग ने अपने विवरण से स्पष्ट किया है कि कृषि- कार्य के प्रमुख कर्त्ता शूद्र थे।[502] महापुराण में भी हलवाहक को "कीनाश" संज्ञा से अभिहित किया गया है। कीनाश एक पुरातन शब्द है। ऋग्वेद में[503] यह शब्द हलवाहक और कर्षक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु विष्णुधर्मोत्तर[504] तथा भविष्य[505] पुराणों में कीनाश शब्द का प्रयोग हलवाहक या कर्षक के अभिप्राय में न होकर वैश्य जाति के अर्थबोधक के रूप में किया गया है। परन्तु आठवीं शती के नारदस्मृति[506] के भाष्य-कार ने कीनाश शब्द का प्रयोग शूद्रार्थ किया है। ऐसी स्थिति में विद्वानों का इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि पूर्वमध्यकाल में वाणिज्य के ह्रास के कारण वैश्यों के एक वर्ग ने शूद्रों की वृत्ति अपना ली थी, उपयुक्त प्रतीत होता है किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि हमारे महापुराण के काल में वाणिज्य- व्यापार का सर्वथा और सर्वशः पतन हो गया था।

शिल्प- कर्म :-

पुष्पदन्त के महापुराण से शिल्प- कर्म का उल्लेख मिलता है। महापुराण में हस्त- कौशल को शिल्प-कर्म की संज्ञा से अभिहित किया गया है।[507]

उस समय तेली, कुम्भकार, चित्रकार, लोहार, नापित {काश्यप}, वस्त्रकार आदि शिल्प द्वारा "जीविकोपार्जन" करने वालों में प्रमुख थे। वास्तुकार और तक्षक मिलकर मकान, भवन, प्रासाद, नगर, तालाब, मन्दिर, मूर्तियाँ, जलाशय आदि का निर्माण करते थे।[508] समाज में इनका महत्वपूर्ण स्थान था। जैन महापुराण में बहुत से खनिज पदार्थों का उल्लेख मिलता है जैसे - लोहा, ताँबा, जस्ता, शीशा, रजत, स्वर्ण, मणि, रत्न, वज्र, लवण, गेरू, हरताल आदि।[509] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय खनन- विद्या का विकास भलीभाँति हो चुका था।

व्यावसायिक वर्ग :- पुष्पदन्त के महापुराण के समय में निम्न व्यावसायिक वर्गों का उल्लेख प्राप्त होता है - आचार्य, चिकित्सक, वास्तुपाठक, लक्षणपाठक, नैमित्तिक, गांधार्विक, नट, नर्तक, जल्ल {रस्सी का खेल करने वाले} मल्ल {युद्ध करने वाले}, मौष्टिक {मुष्टि युद्ध करने वाले}, विडंबक {विदूषक}, कथक {कथावाचक}, तैराक {प्लवक}, रास गाने वाले {लासक}, आख्यापक, लंख {बाँस पर चढ़कर खेल दिखाने वाले, मंख {चित्रपट लेकर भिक्षा माँगने वाले} तूण इल्ल {तूणा बजाने वाले} भुजंग {सँपेरो} मागध {गाने- बजाने वाले}, हास्यकार, चाटुकार, राजभृत्य, छत्रग्राही, सिंहासनग्राही आदि आते हैं।[510] गुप्तकाल में भी इसी प्रकार के पेशेवर लोगों का विवरण प्राप्त होता है।[511] जैनेतर ग्रन्थ हर्षचरित में हाथियों के पालन-पोषण एवं बेचने वाले पेशेवर वर्ग का वर्णन प्राप्त होता है।[512]

व्यापार और वाणिज्य :- प्राचीन काल से भारतीय समाज में व्यापार एवं वाणिज्य का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जैन महापुराण में भी उल्लिखित है कि उस समय देश की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी। देश में उत्पादन अधिक होता था,

आवश्यकता से अधिक उत्पादन दूसरों को विक्रय किया जाता था। उत्पादन के विक्रय का कार्य वणिक वर्ग करता था।[513] उक्त महापुराण में उल्लेख मिलता है कि व्यापारी दूसरों द्वारा निर्मित माल में कुछ परिवर्तन कर अपनी मुद्रा (छाप) अंकित कर विक्री करते थे।[514] जैनेतर साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि बेइमान व्यापारी राजस्व की चोरी भी करते थे। ऐसे व्यापारियों के पकड़े जाने पर कठोर राजदण्ड की व्यवस्था थी।[515]

राष्ट्रीय व्यापार :-
--------------- राष्ट्रीय व्यापार उन्नति पर था। गाय, बैल, भैंस, ऊँट आदि पशुओं के क्रय के समान प्रतिभू का होना अनिवार्य था।[516] यह प्रतिभू आजकल के कर- अधीक्षक के समान रहा होगा, जो पशुओं के क्रयोपरान्त अनुबन्ध पत्र तथा रसीद आदि देता था। महापुराण के समय में पशु व्यापार का अत्यधिक प्रचलन था।[517]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार :-
------------------- महापुराण में वर्णित है कि व्यापारी जलमार्ग से धनोपार्जन ताम्रलिप्त नगर जाया करते थे।[518] विदेशों से व्यापार का उल्लेख मिलता है। जहाज के लिए पोत शब्द का उल्लेख मिलता है जिससे स्पष्ट होता है कि विदेशों में व्यापार जहाज के माध्यम से होता था। परन्तु रत्नों का व्यापार समीपवर्ती देशों (प्रत्यन्तवासिन्) के साथ होता था।[519] इसका कारण यह था कि पूर्वमध्यकालीन आर्थिक परिवेश में कुछ ऐसे तत्वों का प्रादुर्भाव हुआ था, जिनके कारण भारतीय व्यापार में हानि हुई।

बोधिसत्वावदान, कल्पलता, कथासरित्सागर मध्ययुगीन प्रबन्ध-संग्रह, राजतरंगिणी, प्रबन्धकोश इत्यादि के आधार पर दशरथ शर्मा एवं ब्रजनाथ सिंह यादव प्रभृति विद्वानों ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि

सामुद्रिक लुटेरों के आतंक के कारण विदेशों के साथ भारतीय व्यापार निर्बाध रूप में नहीं चल सकता था।[520] इस मत का समर्थन महापुराण तथा हरिवंश पुराण से भी हो जाता है।

किन्तु हमारे महापुराण से स्पष्ट होता है कि विषम परिस्थितियों में भी विदेशों के साथ व्यापार सम्बन्ध था। उसी महापुराण में वर्णित है कि जल-स्थल आदि के यात्रियों को वैश्य- अभिधा से सम्बोधित किया जाता था।[521] पद्मपुराण से भी विदेशों में व्यापार का विवरण मिलता है।[522] उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय व्यापार एवं वाणिज्य का बिलकुल ह्रास नहीं हुआ था ।

आयात- निर्यात :-
---------------- जैन महापुराण में वर्णित है कि उस समय भारत में विदेशों से सामानों का आयात-निर्यात दोनों ही होता था। यूनान, कश्मीर, वाह्लीक से भारत में घोड़ों का आयात होता था, हाँथीदाँत, रेशम, सूत, हीरा, नीलम, चन्दन, केसर, मूँग आदि का भारत से निर्यात होता था।[523]

मुद्रा :-
------ आयात-निर्यात के वस्तुओं के क्रय- विक्रय का जो माध्यम वर्णित था उस मुद्रा के लिए जैन महापुराण में "दीनार" शब्द का प्रयोग हुआ है।[524] दीनार एक स्वर्ण मुद्रा थी। इसके अतिरिक्त किसी दूसरी मुद्रा का उल्लेख उक्त महा-पुराण में नहीं प्राप्य होता है। किन्तु अन्य जैनग्रन्थों में[525] हिरण्य, सुवर्ण, कार्षा-पण, मास, अर्द्धमास, रूपक, पण्णग, पायंक, स्वर्णमाषक, कौड़ी, काकिणी, निष्क आदि मुद्राओं के विवरण मिलते हैं। "दीनार" शब्द के प्रयोग के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्वमध्यकाल में विद्वानों ने वाणिज्य और व्यापार का ह्रास जितना अधिक माना है उतना नहीं था।

माप- प्रणाली :-

पुष्पदन्त के महापुराण से माप- प्रणाली के विषय में अधिक जानकारी नहीं प्राप्त होती है, केवल इतना ही ज्ञात होता है कि माप के लिए "मान" शब्द व्यवहृत था। मान को मेय, देश, काल और तुला चार भागों में विभाजित किया गया है। पूर्व मध्यकाल में साहित्यिक एवं अभिलेखीय माप प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है। भारक का प्रयोग नारियल, अन्न, रूई, शक्कर, गुड़ आदि के लिए होता था। अन्न तौलने के लिए सेइ और द्रोणकारी बाट प्रचलित थे।[526]

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1- महा0 5/19, आदि0 54/119, हरिवंश 11/131.

2- वही, 20/86.

3- वही, 20/21, 20/86, पद्म 53/139

4- मनु0 4/55-62, विष्णु धर्मसूत्र 68/48.

5- महा0 18/15, जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ0- 193-94.

6- पद्म 24/56

7- महा0 9/56, हरिवंश 7/85, पद्म0 53/ 136.

8- वही, 34/ 119

9- वही, 44/146, तुलनीय - उपनिषद् 8/15/1, भागवतपुराण 7/15/7-8

10- वही, 41/51

11- पद्म 22/ 137- 140

12- महा0 71/275

13- पद्म0 24/47

14- महा0 2/13 तुलनीय - अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक-2, पृ0- 35, अंक- 4, पृष्ठ- 65, रघुवंश 1/50.

15- वही, 2/13

16- वही, 2/13, आदि0 3/186 तुलनीय सिद्धान्तकौमुदी प्रकरण 2/3/46.

17- वही, 2/13

18- वही, 2/13, पद्म0 53/135.

19- वही, 2/13.

20- वही, 2/13.

21- वही, 2/13

22- वही, 2/13

23- वही, 1/14, 2/13

24- वही, 1/14, 2/13

25- वही, 2/13, पद्म0 2/9, 102/109

26- वही, 2/13, वही, 2/8

27- वही, 2/13

28- वही, 1/14, पद्म0 2/7, 2/13

29- वही, 2/13

30- वही, 2/13

31- वायु0 8/143, 149, ब्रह्माण्ड 2/7/142- 146·

32- महा0 2/13

33- पद्म0 33/47

34- महा0 2/13

35- वही, 2/13

36- वही, 1/14, 2/13

37- वही, 1/14, 2/13

38- वही, 2/13

39- वही, 2/13

40- वही, 2/13

41- वही, 1/14, 2/13

42- वही, 1/14, 2/13

43- वही, 1/14, 2/13

44- वही, 8/234

45- वही, 8/236, पद्म0 34/13·

46- नेमिचन्द्र शास्त्री- आदिपुराण में प्रतिष्ठित भारत, पृ0- 196-197, देवीप्रसाद मिश्र - जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 366

47- पद्म0 53/136

48- नेमिचन्द्र शास्त्री - वही, पृ0- 197·

49- महा0 38/ 187

50- वही, 37/188

51- वही, 52/243, पद्म0 53/135

52- पद्म0 121/16-17, हरिवंश 16/61

53- पद्म0 120/23

54- वही, 34/14

55- वही, 34/14

56- महा0 65/ 156

57- पद्म0 59/15

58- वही, 42/20

59- वही, 42/21

60- वही, 53/197

61- वही, 80/154

62- वही, 80/154

63- महा0 5/15

64- वही, 5/15

65- वही, 5/15

66- वही, 4/16

67- वही, 29/91

68- वही, 3/187, पद्म0 2/6

69- वही, 3/187

70- वही, 3/187

71- वही, 30/21-22

72- वही, 19/99, पद्म0 6/92

73- वही, 5/129, 29/91, हरिवंश 36/28

74- वही, 29/99, पद्म0 42/19, हरिवंश 36/28

75- व्यास 3/67-68

76- हारीत, स्मृतिचन्द्रिका 1, पृ0-222 में उद्धृत

77- महा0 5/72, पद्म0 33/180

78- वही, 9/47, पद्म0 120/21, 53/134, हरिवंश 7/86

79- वही, 9/47, पद्म0 73/137, हरिवंश 7/86

80- वही, 13/116, पद्म0 88/30, 120/ 24

81- वही, 65/156

82- वही, 2/10

83- वही, 2/13

84- वही, 2/13

85- वही, 2/13

86- वही, 2/13

87- वही, 2/13

88- वही, 2/13

89- वही, 2/13

90- वही, 2/19

91- वही, 2/19

92- वही, 2/19

93- वही, 2/13

94- वही, 2/13

95- वही, 2/13

96- रामायण 2/91/51, अर्थशास्त्र 2/25/42-36, महाभारत, आदिपर्व 177/10, धम्मपद अट्ठकथा 3, पृ0-100, सुरापान जातक 1, पृ0-471·

97- हरिवंश 61/35, तुलनीय - जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी 1965, पृ0- 198-199, देवीप्रसाद मिश्र- जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0-142·

98- बृहत्कल्पभाष्य 5/65-35

99- जगदीश चन्द्र जैन - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ0-199-200

100- बृहत्कल्पभाष्य 31/19

101- पद्म0 73/139

102- बृहत्कल्पभाष्य 14/15

103- वही, 61/51-53·

104- महा0 44/288

105- वही, 44/290, तुलनीय- कल्पसूत्र 9/17, निशिथचूर्णी पीठिका 131

106- वही, 1/39

107- वही, 5/19

108- वही, 5/19

109- मोतीचन्द्र - प्राचीन भारतीय वेशभूषा, प्रयाग, सं0 2007, भूमिका, पृ0- 20

110- महा0 5/19

111- वही, 5/19

112- पद्म0 27/32

113- महा0 5/19

114- हरिवंश· 7/87

115- महा0 5/19.

116- मोतीचन्द्र - प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका, पृ0- 5

117- वासुदेव शरण अग्रवाल - हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 76

118- मोतीचन्द्र - प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका, पृ0- 9

119- महा0 5/19

120- निशीथचूर्णी, 7, पृ0- 10-12

121- "दुकुल" गौडविषय विशिष्टं कार्पासिकम - आचारांग हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, 2/5/13

122- वासुदेव शरण अग्रवाल - हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 7

123- वही, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 76

124- महा0 5/19, पद्म0 3/198, आदि0 10/181, 15/23

125- मोतीचन्द्र - प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका, पृ0- 55

126- बृहत्कल्पसूत्रभाष्य 4/36-61

127- समराइच्चकहा 1, पृ0- 74

128- आचारांग 2,5,1,3

129- निशीथ 4, पृ0- 467

130- वासुदेव शरण अग्रवाल - हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ- 78

131- पद्म0 3/198

132- महा0 5/19

133- मोतीचन्द्र - प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका, पृ0- 55

134- महा0 5/19, आदि0 9/53

135- वही, 5/19, वही, 8/8, 12/176

136- मोतीचन्द्र - प्राचीन भारतीय वेशभूषा, प्रयाग, 2007, भूमिका, पृ0-23

137- महा0 5/19, आदि0 11/44, पद्म0 3/122

138-अ - मोतीचन्द्र- प्राचीन भारतीय वेशभूषा, प्रयाग, सं0 2007, भूमिका, पृ0- 95·

138-ब- वासुदेव शरण अग्रवाल - हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 76

139- महा0 5/19, आदि0 16/234

140- वही, 5/19, वही, 7/142

141- वही, 2/14, वही, 3/188

142- वही, 5/19, वही, 43/211

143- रघुवंश 7/29

144- हरिवंश 11/121

145- महा0 5/19, आदि0 9/48, हरिवंश 7/87, 11/121

146- निशीथ 47, पृ0- 467, तुलनीय आचारांग 2/14/6, भगवती सूत्र 9/33/9

147- बृहत्कल्पसूत्र 4/36/62

148- महा0 5/19, आचारांग 2/5/1-8

149- हेमचन्द्र का व्याकरण 3/4/41

150- आचारांग 2/5/1 3-8

151- निशीथ 47, पृ0- 467

152- महा0 5/19, आदि0 9/48

153- वही, 5/19, आदि0 3/70

154- अमरकोश 2/6/117

155- महा0 5/19, आदि0 10/178

156- मोतीचन्द्र - प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका, पृ0- 19

157- महा0 5/19, आदि0 47/76, हरिवंश 11/121

158- अथर्ववेद 14/2/66-67

159- हेम व्याकरण 6/2/123

160- महा0 5/19, आदि0 1/14, हरिवंश 9/115, महावग्ग 8/9/14

161- हेमचन्द्र का व्याकरण 3/3/3

162- मोतीचन्द्र - प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका, पृ0- 35

163- महा0 5/19, आदि0 1/7, पद्म0 3/ 296, हरिवंश 9/ 115

164- अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक - 1, 19 पृ0- 13, कुमारसम्भव 6/ 92, समराइच्चकहा - 7, पृ0- 645

165- मोतीचन्द्र - प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका, पृ0- 31

166- हर्षचरित 1, पृ0- 10

167- महा0 5/19, आदि0 39/28

168- वही, 5/19, आदि0 39/ 193

169- महावग्ग 5/2/2, 5/1/29

170- पद्म0 3/ 198

171- ए0 के0 मजूमदार - चालुक्याज आॅफ गुजरात, पृ0- 356

172- अमरकोश 2/6/118

173-अ- जे0 सी0 सिकदार - स्टडीज इन द भगवती सूत्र, पृ0- 241

173-ब- महा0 5/19, आदि0 62/29

174- वही, 68/225

175- वही, 5/19, आदि0 63/46।

176- वही, 5/19, आदि0 63/458

177- वही, 5/19, तुलनीय, केयूरच काङ्गदकेष्टकानहारान मुकुटभेदाश्च सुवते भूषणाङ्गकाः ।। आदि0 9/4।

178- अभिज्ञानशाकुन्तल 4/5

179- महा0 5/19, आदि0 61/124

180- वही, 5/19, आदि0 63/415

181- वही, 5/21, आदि0 68/676, हरिवंश 2/10

182- वही, 5/21, आदि0 35/42, पद्म0 80/75

183- वही, 5/21, आदि0 58/86, पद्म0 80/75

184- वही, 5/21, आदि0 12/44, 35/224

185- वही, 5/21, वही, 14/14

186- वही, 5/21, वही, 7/231, 15/81, हरिवंश 7/73

187- वही, 5/21, वही, 13/154, पद्म0 80/75

188- वही, 5/19, वही, 13/138, हरिवंश 2/10

189- वही, 5/19, वही, 13/136, हरिवंश 2/9

190- वही, 5/19, हरिवंश 7/72

191- वही, 5/19, वही, 7/72

192- वही, 5/19, वही, 7/72

193- वही, 5/19, वही, 7/73

194- वही, 11/24, आदि0 68/250

195- वही, 11/24, आदि0 68/650, पद्म0 118/47 तुलनीय रघुवंश 10/75

196- वही, 11/24, वही, 3/78

197- वही, 11/24, वही, 1/44, 4/94, पद्म0 36/7, हरिवंश 11/13

198- वही, 11/24, आदि0 29/167, तुलनीय कुमारसम्भव 6/81, रघुवंश 17/28.

199- पद्म0 71/65

200- महा0 11/24, आदि0 3/91, 3/130, 5/4, 9/41, पद्म0 85/107, हरिवंश 41/36 तुलनीय- रघुवंश 9/13.

201- वही, 11/24, पद्म0 71/7, 11/327, आदि0 9/189, तुलनीय- रघुवंश 13/59.

202- वासुदेव शरण अग्रवाल - हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0-219.

203- महा0 11/24, पद्म0 8/70

204- वही, 11/24, आदि0 14/7

205- वही, 11/24, आदि0 3/78

206- वही, 5/19, वही, 16/233

207- वृहत्संहिता 48/24

208- नेमिचन्द्र शास्त्री - आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ0- 210

209- महा0 5/19, पद्म0 3/102

210- महा0 5/19, वही, 103/94

211- वही, 5/19, आदि0 2/78, 72/102, पद्म0 118/47, हरिवंश 7/89

212- वही, 5/19, आदि0 15/189

213- कुण्डलम् कर्ण[illegible] / अमरकोश 2/6/103

214- चपलो मणिकुण्डल:, पद्म0 71/13

215- महा0 5/19, आदि0 3/78, 3/102, 9/190, 33/124

216- [illegible] 2, पृ0- 100

217- यशस्तिलक, पृ0- 367

218- वासुदेव शरण अग्रवाल - हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0-147

219- दशरथ शर्मा - अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ0- 263.

220- महा0 5/19, आदि0 16/47

221- वही, 5/19, वही, 16/52

222- वही, 5/19, वही, 16/52

223- वही, 5/19, वही, 16/53

224- वही, 5/19, वही, 16/53

225- वही, 5/19, वही, 16/54

226- वही, 5/19, वही, 16/49

227- वही, 5/19, वही, 16/50-51

228- अमरकोश 2/6/106

229- वही, 2/6/155

230- महा0 5/19, आदि0 16/49

231- वही, 11/24, वही 3/27, 3/156, 16/587, 63/434,
पद्म0 3/277, 71/2, 85/107 हरिवंश 7/87.

232- वही, 11/24, वही, हारोयष्टिकलाप: स्यात् 16/55

233- वही, 11/24, वही, 16/55

234- वही, 11/24, वही, 16/56,

235- वही, 11/24, वही, 16/58

236- वही, 11/24, वही, 16/57

237- वही, 11/24, वही, 16/58, हरिवंश 7/89

238- वही, 11/24, वही, 16/58.

239- वही, 11/24, वही, 16/59

240- वही, 11/24, वही, 16/59

241- वही, 11/24, वही, 16/60

242- वही, 11/24, वही, 16/61

243- वही, 11/24, वही, 16/61

244- वही, 11/24, वही, 16/61

245- वही, 11/24, वही, 16/ 55-61

246- वही, 11/24, वही, 16/62

247- वही, 11/24, वही, 6/8

248- वही, 11/24, वही, 15/193, हरिवंश 47/38

249- वही, 11/24, वही, 29/167, पद्म0 33/183

250- वही, 11/24, वही, 14/11

251- वही, 11/24, वही, 15/81, पद्म0 3/191

252- वही, 11/24

253- वही, 11/22, वही, 29/167, हरिवंश 11/13

254- वही, 11/24, वही, 5/257, 9/41, 14/12, हरिवंश 11/14

255- गोकुल चन्द्र जैन - यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 147

256- महा0 11/24, आदि0 68/652, 3/157, 9/41, 15/99
हरिवंश0 7/89, 15/3/2, 3/190, रघुवंश 7/50·

257- नरेन्द्र देव सिंह - भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ0-115

258- रघुवंश 7/50

259- भर्तृहरिशतक 2/19

260- महा0 11/24, आदि0 7/235, 47/219, 49/167, पद्म0 3/195,
हरिवंश 49/11

261- पद्म0 33/131, तुलनीय - रघुवंश 6/18

262- ए0 के0 मजूमदार - चालुक्याज ऑफ गुजरात, पृ0- 359.

263- महा0 11/24, आदि0 7/235, 14/12, 16/236,
तुलनीय मालविकाग्निमित्रम्, अंक-2, पृ0- 286. पद्म 3/3,
हरिवंश 11/11

264- महा0 11/24, आदि0 29/167

265- वासुदेव शरण अग्रवाल - हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0-176

266- महा0 11/24, आदि0 7/129, 12/29 तुलनीय - ऋतुसंहार 6/7,
पद्म0 3/194, 8/72.

267- वही, 11/24, वही, 15/23, तुलनीय - रघुवंश 10/8,
कुमारसम्भव 8/26, ऋतुसंहार 1/4, पद्म0 71/65.

268- वही, 11/24, वही, 15/203, तुलनीय - रघुवंश 8/58, उत्तरमेघ 3,
ऋतुसंहार 3/3, कुमारसम्भव 7/61.

269- वही, 11/24, वही, 4/184, 8/13, 11/121, 14/13.

270- वही, 11/24, वही, 13/69, 16/19, हरिवंश 7/89.

271- वही, 5/19, वही, 6/63, 16/237, पद्म0 27/32 तुलनीय -
रघुवंश 13/23, कुमारसम्भव 1/34, ऋतुसंहार 4/4, विक्रमोर्वशीय 3/15.

272- नेमिचन्द - आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ0- 222.

273- महा0 5/19, आदि0 14/14

274- वही, 5/19, वही, 14/14

275- वही, 11/24, वही, 20/20

276- वही, 11/24, वही, 14/6

277- मालवि0 3/4/, 4/9

278- रघुवंश 18/44

279- वही, 11/24, वही, 7/134

280- वही, 11/24, वही, 43/248

281-अ- वही, 43/249

281-ब- वही, 11/24, वही, 27/120

281-स- वही, 11/24, वही, 43/247

282- वही, 11/24, वही, 9/11

283- वही, 11/24, वही, 31/61

284- वही, 11/24, वही, 13/178

285- वही, 11/24, वही, 12/53, 15/90

286- रघुवंश 16/50

287- वही, 17/22

288- मेघदूत 1/32

289- महा0 11/24, आदि0 27/120

290- वही, 5/19, वही, 17/167, हरिवंश 31/3

291- वही, 5/19, वही, 5/288

292- वही, 5/19, वही, 11/8

293- वही, 5/19, वही, 15/88

294- वही, 5/19, वही, 29/153

295- वही, 5/19, वही, 36/76

296-अ- शिवशेखर मिश्र - मानसोल्लास : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1966, पृ0- 321

296-ब- मन्मथराय - प्राचीन भारतीय मनोरंजन, इलाहाबाद, सं0 2013, पृ0- 10-17

297- महा0 71/13/10, 71/17/14, आदि0 14/204, पद्म0 10/71-108

298- वही, 88/17/13, 88/19/17, वही, 14/207-208, पद्म 5/296-303

299- वही, 88/17/13- 88/19/17, वही, 7/125, तुलनीय- रघुवंश 9/46·

300- वही, 88/17/13- 88/19/17, वही, 45/183, तुलनीय रघुवंश 16/83, कुमारसम्भव 5/11·

301- वही, 88/17/13- 88/19/17, वही, 14/200

302- वही, 5/11

303- वही, 71/13/10-71/17/14, हरिवंश0 62/29, तुलनीय - अर्थशास्त्र 8/3, मनु0 7/44-50

304- वही, 71/13/10- 71/17/14, आदि0 12/33, हरिवंश 5/24, पद्म0 6/230

305- धर्मेन्द्र कुमार गुप्त - सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन द टाइम ऑफ दण्डिन, दिल्ली 1972, पृ0- 275, महा0 71/13/10·

306- नीतिशतक 16, विद्याहीन: पशु: ।

307- अथर्ववेद 11/3/15

308- छा0 उ0, 11/10

309- विष्णु0 6/5/62, अन्धं तम इवाज्ञानम् ।

310- छा0 उ0 1/1/10

311- सु0 र0 सं0, पृ0-194, ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं

समस्ततत्वार्थविलोकिदक्षम् ।

तेजोऽनपेक्षं विगतान्तरायं प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेऽपि ।।

312- महाभारत, 12/339/6, नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तप:।

313- वायु पु0 16/21, ज्ञानात् [illegible] बध: । ईश0 उ0 11, केन0 उ0 4/9·

314- सु0 र0 सं0 30/3 अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।

सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव स: ।।

बृ0 उ0 4/4/11

316- सु0 र0 सं0 31/14·

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुक्तो कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं किं किं न साधयति
कल्पलतेव विद्या ।।

317- महा0 5/6/5-5/7/3

318- आदि0 16/97-101·

319- राधाकुमुद मुकर्जी - ऐंशेण्ट इण्डियन एजुकेशन, दिल्ली, पृ0-366·

320- ए0 एस0 अल्तेकर - एजुकेशन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, बनारस, 1948, पृ0- 326·

321- महा0 5/6/5-5/7/3

322- वही, 5/6/5 - 5/7/3

323- आदि0 16/103-104, 38/ 102-103

324- महा0 5/6/5 - 5/7/3, आदि0 16/105

325- वही, 5/6/5 - 5/7/3, वही, 16/106-108

326- वही, 5/9

327- वही, 5/9, वही, 38/104-106, 40/156-158, 39/94-95, हरिवंश0 42/5

328- वही, 5/6/5, 5/7/3

329- वही, 5/10

330- आदि0 38/121-126·

331- पद्म0 39/163, हरिवंश 17/79

332- महा0 5/6/5, 5/7/3, आदि0 16/110, 16/118

333- पद्म0 39/162

334- वही, 8/333-334

335- बृजनाथ सिंह यादव - सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, पृ0- 403

336- अपरार्क द्वारा उद्धृत, याज्ञ0 1/222

यथा घटप्रतिच्छना रत्नराजा महाप्रभाः ।
अकिंचित्करतां प्राप्तास्तद्वद्विद्याश्चतुर्दश ।।

337- महा0 43/18

338- बौधायन धर्मसूत्र 28/38-39, गौतम धर्मसूत्र 1/10, मनु0 2/170

339- हरिवंश 21/156

340- महा0 1/126-132

341- पद्म0 100/33-38

342- महा0 1/168

343- पद्म0 26/7

344- महा0 38/109

345- पद्म0 100/52

346- महा0 43/71

347- पद्म0 15/122-123

348- महा0 18/173

349- वही, 18/175

350- पद्म0 100/81, तुलनीय - गोपथ ब्राह्मण 1/2/1-8, महाभारत 5/36/52

351- वही, 39/163, 11/51

352- हरिवंश 17/79

353- महा0 5/18/4-8

354- महा0 5/18/4-8, आदि0 16/102, 108/115

355- हरिवंश 21/133

356- महा0 5/18/4-8, आदि0 16/105-117, पद्म0 15/20

357- वही, 5/6/5, 5/7/3, आदि0 2/48, 16/111-125, 41/141-155

358- बृजनाथ सिंह यादव - सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, पृ0- 400.

359- महा0 5/6/5, 5/7/3

360- वही, 5/6/5, 5/7/3

361- सचाऊ, इण्डिया 1, 178, ब्यूलर द्वारा उद्धृत पादटिप्पणी 218

362- ब्यूलर - इण्डियन पैलियोग्राफी, कलकत्ता, 1959, पृ0-68

363- महा0 5/6/5, 5/7/3, आदि0 1/25

364- वही, 5/6/5, 5/7/3, वही, 16/111

365- वही, 5/6/5, 5/7/3, वही, 12/218-255

366- वही, 5/6/5, 5/7/3, वही, 16/108, पद्म0 5/114

367- वही, 5/6/5, 5/7/3, वही, 16/119

368- वही, 5/6/5, 5/7/3

369- आदि0 16/123, पद्म0 123/186

370- महा0 5/6/5, 5/7/3, आदि0 16/120

371- वही, 5/6/5, 5/7/3, वही, 16/121

372- वही, 5/19

373- आदि0 16/122

374- महा0 5/6/5, 5/7/3, आदि0 14/96

375- वही, 5/6/5, 5/7/3

376- आदि0 14/101

377- महा0 5/6/5, 5/7/3

378- पद्म0 80/58, आदि0 75/469

379- महा0 5/6/5, 5/7/3

380- हरिवंश 10/119

381- महा0 5/6/5, 5/7/3, आदि0 15/30, 59/251

382- वही, 5/6/5, 5/7/3, वही, 8/181-205

383- वही, 5/6/5, 5/7/3

384- आदि0 62/179-190

385- महा0 5/6/5, 5/7/3, आदि0 6/198

386- वही, 5/6/5, 5/7/3, हरिवंश 3/87

387- वही, 5/6/5, 5/7/3, आदि0 49/51-54

388- वही, 5/6/5, 5/7/3

389- आदि0 8/99, 82-49

390- महा0 5/6/5, 5/7/3, पद्म0 73/28

391- वही, 5/6/5, 5/7/3, वही; 24/59

392- वही, 5/18/4-8, वही, 16/123

393- वही, 5/6/5, 5/7/3, वही, 18/62

394- वही, 5/6/5, 5/7/3, वही, 16/124

395- पद्म0 16/124

396- बी0 एन0 एस0 यादव - सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, पृ0- 71, प्रबोध 1/27

397- अल्तेकर - पोजीशन ऑफ द वीमेन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, बनारस, 1938, पृ0- 3

398- महा0 72/8/1

399- पद्म0 16/28

400- महा0 32/2/10-32/4/5

401- वही, 60/26/10

402- पद्म0 46/84

403- आदि0 17/169, पद्म0 80/147

404- महा0 143/100-11

406- वही, 71/241, तुलनीय - अंगुत्तरनिकाय 2/2, पृ0- 498

407- पाण्डव 7/248

408- पद्म0 110/31, तुलनीय मनु0 2/213-214, उत्तराध्ययनटीका 4, पृ0-83, महाभारत, अनुशासनपर्व 48/37-38

409- वही, 80/154, तुलनीय- महाभारत, अनुशासनपर्व, 19/43

410- महा0 5/18/4-8, आदि0 16/98

411- वही, 73/23/5, वही, 43/238

412- मत्स्यपुराण 154/157

413- याज्ञवल्क्य पर मिताक्षरा 2/143, 115,123,124,125, प्रभावकचरित, पृ0- 337-38

414- एस0 एन0 राय - पौराणिक धर्म एवं समाज,इलाहाबाद,1968,पृ0-268

415- महा0 19/3/3

416- आदि0 43/43, पद्म0 8/11

417- महा0 23/8/5-8, आदि0 13/30, तुलनीय- गौतम 2/56, मनु02/145, वशिष्टधर्मसूत्र 13/48

418- पद्म0 81/79

419- मनु0 2/145

420- महा0 90/11/6, 98/15/21, आदि0 75/93

421- वही, 30/9/11, 90/15/1, वही, 68/225, वृद्धहारीत 11/205-210

422- एस0 एन0 राय - पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, 1968,पृ0-281, देवीप्रसाद मिश्र - जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 119

423- महा0 43/33

424- वही, 14/165, पद्म0 6/381-422

425- वही, 75/494-495, हरिवंश 43/23

426- वही, 7/243-244, हरिवंश 21/42

427- वही, 4/73

428- हरिवंश 27/101, तुलनीय- मृच्छकटिक, अंक - 1

429- महा0 15/ 69, हरिवंश 44/50, पद्म0 58/69, 94/17-18

430- पी0 टामस - इण्डियन वीमेन थ्रू द एजेज, पृ0- 116

431- महा0 43/43

432- एस0 एन0 राय - पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ0- 284- 287

433- अल्तेकर - पोजीशन ऑफ द वीमेन इन ऐंशेंट इण्डिया, पृ0-197-208 तथा
भगवतशरण उपाध्याय - गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, पृ0-219-220

434- महा0 72/ 93

435- वही, 71/226-228

436- वही, 47/203-206

437- पद्म0 16/9

438- महा0 90/11/6, 98/ 15/21, आदि0 44/296-302

439- वही, 90/11/6, 98/15/21, वही, 75/93

440- कार्पस इंसक्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, भाग-3, पृ0- 93

441- वही, भूमिका, पृ0- 95

442- अल्तेकर - पोजीशन ऑफ द वीमेन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पृ0- 136-153
भगवतशरण उपाध्याय - गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, पृ0- 218

443- महा0 17/ 10, आदि0 20/56, हरिवंश 43/2

444- वही, 8/52

445- वही, 38/ 47, 58

446- वही, 14/165, 47/33, पद्म0 6/381-422

447- वही, 75/490- 495, हरिवंश 43/23

448- वही, 16/114- 125

449- लुडविग स्टनवारव - ज्युरिडिकल स्टडीज इन ऐंशेण्ट इण्डिया, ला, पृ0- 471·

450- ध्वजाहृतो भुक्तदासो क्रीतदात्रियो ।
पौत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनय: ।।
- मनु0 48/15

451- वासुदेव उपाध्याय - गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग - 2, पृ0- 240

452- महा0 44/125, तुलनीय - गौतम 10/60-61, मनुस्मृति 10/124-125·

453- वही, 42/ 157

454- भर्तृसेवा हि भृत्यानां स्वाधिकारेषु सुस्थिति: ।
- हरिवंश 59/21

455- पद्म0 5/122-123

456- महा0 16/ 168

457- आर0 एस0 शर्मा - शूद्राज इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पृ0- 281-282·

458- ज्ञानेन्द्र राय - फोर्सड लेबर इन ऐंशेण्ट ऐण्ड अर्ली मेडिवल इण्डिया, द इण्डियन हिस्टोरिकल रिव्यू, भाग-3, अंक - 1, जुलाई 1976, पृ0- 16- 52

459- पद्म0 97/ 148

460- वही, 97/ 148

463- महा0 18/15

464- आदि0 46/55

465- महा0 18/15-16

466- आदि0 63/458-459, हरिवंश 11/108, पद्म0 94/11

467- महा0 5/10

468- पद्म0 35/ 161-164

469- झिनकू यादव - समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन,वाराणसी 1977, पृ0- 157-158.

470- महा0 5/19, आदि0 41/158

471- वही, 5/10

472- आदि0 42/14, तुलनीय गरूड़ पुराण 1/205/98

473- महा0 5/10, आदि0 5/15

474- वही, 69/2/17-18, 93/4/10-13, वही 29/29

475- वही, 5/20/4

476- यथास्वं स्वोचितं कर्मप्रजा दधुरसंकरम् । आदि0 16/187

477- महा0 5/20, ग्रामावृत्तिपरिक्षेपमात्राः स्युरुचिताश्रयाः ।
शूद्रकर्षकभूयिष्ठाः सारामाः सजलाशया ।। आदि0 16/164

478- महा0 5/21, वही, 16/165-168

479- वही, 5/20, वही, 26/109-127

480- पद्म0 2/3/32

481- महा0 18/15, असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च ।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवन हेतवः ।।
आदि0 16/179, 16/181

482- वही, 5/9, पद्म0 3/232

483- वही, 18/15, पद्म0 92/40

484- वही, 18/15

485- कौटिल्लीय अर्थशास्त्र, वाराणसी, 1962, पृ0- 143-145

486- महा0 18/15

487- वही, 18/15, आदि0 16/181, तुलनीय- विष्णुपुराण 1/13/82, वृहत्कल्पभाष्य 4/4891.

488- महा0 5/21, क्षेत्राणि दध्ते यस्मिन्नुत्तवाद लाङ्गलाननैः ।
पद्म0 2/3, 3/67, हरिवंश 7/117.

489- लल्लन जी गोपाल - पूर्व मध्यकालीन उत्तर भारत में कृषि व्यवस्था (700-1200) राजबली पाण्डेय, स्मृतिग्रन्थ, देवरिया, 1976,पृ0-265

490- पद्म0 2/7

491- हरिवंश 7/117

492- महा0 18/15, आदि0 42/177

493- वही, 5/9, वही, 54/12, पद्म0 6/208

494- वही, 5/9, पद्म0 34/60

495- लल्लन जी गोपाल - वही, पृ0- 260

496- महा0 5/21.

497- वही, 18/15, आदि0 3/186-188, पद्म0 2/3-8, हरिवंश 14/161-163, 19/18, 58/32, 58/235, तुलनीय - जगदीशचन्द्र जैन - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ0- 123-130, बी0 एन0 एस0 यादव- सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन द नार्दन इण्डिया, पृ0- 259., सर्वानन्द पाठक - विष्णुपुराण का भारत, पृ0-198.

498- महा0 5/19, पद्म0 83/20

499- हरिवंश 9/36

500- महा0 5/19, पद्म0 2/10-24, 4/8, हरिवंश 8/134-136·

501- आर0 एस0 शर्मा - शूद्राज इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पृ0- 234 तथा बी0 एन0 एस0 यादव - सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, इलाहाबाद, 1973, पृ0- 41·

502- टी0 वार्ट्स - ऑन युवान च्वांग्स ट्रवल्स इन इण्डिया, लन्दन, 1904-1905, वा-1, पृ0- 168·

503- वैदिक इण्डेक्स, भाग-1, पृ0- 159

504- विष्णु धर्मोत्तर, 3/10/3

505- भविष्यपुराण, ब्रह्मपर्व 44/22

506- नारदस्मृति, 1/181

507- महा0 5/19, शिल्पं स्यात् करकौशलम् । आदि0 16/182·

508- वही, 5/19-20, हरिवंश 11/93, 27/71, आदि0 16/182, 32/29

509- वही, 5/21, आदि0 16/182, 32/29, हरिवंश 27/71, 38/68, 56/57, 55/92· जगदीश चन्द्र जैन - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ0- 140-154·

510- वही, 5/20, जगदीश चन्द्र जैन - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ0- 155·

511- भगवतशरण उपाध्याय - गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, लखनऊ 1969, पृ0- 247-252·

512- वासुदेव शरण अग्रवाल - हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 128·

513- महा0 5/9

514- वही, 5/9, आदि0 1/68

515- मोतीचन्द्र - सार्थवाह, पृ0- 173

516- महा0 5/19, यदवच्च्यप्रतिभू : कश्चिद् यो क्रये प्रतिगृह्यते ।

- आदि0 42/ 173

517- वही, 5/19, पद्म0 33/ 46

518- वही, 5/9, हरिवंश 21/75-76

519- वही, 5/21, आदि0 32/70

520- बी0 एन0 एस0 यादव - सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, पृ0- 270- 275

521- महा0 16/ 244

522- पद्म0 25/ 44

523- महा0 5/19

524- वही, 70/ 149, पद्म0 71/64, हरिवंश 18/98

525- जगदीश चन्द्र जैन - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ0- 187-188, गोकुलचन्द्र जैन- यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 195 कैलाशचन्द्र जैन - प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, पृ0-28[illegible]

526- वही, प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, पृ0- 288·

चतुर्थ - अध्याय

राजनय एवं राजनीतिक स्थिति

राजनय एवं राजनीतिक स्थिति

पुष्पदन्त के महापुराण में राजनय एवं राजनीतिक स्थिति से सम्बन्धित जो तथ्य प्राप्त होते हैं, उसके स्वरूप का दिग्दर्शन प्रमुख रूप से दो पक्षों में किया जा सकता है। प्रथम पक्ष का सम्बन्ध उन सैद्धान्तिक आदर्शों से है, जो परम्परागत रूप से चले आ रहे थे और द्वितीय पक्ष समकालीन राजनीतिक संस्थाओं एवं राजनय विषयक व्यवस्थाओं की ओर केन्द्रित है। इनके निर्माण-काल में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का विशेष महत्व था। अतः इन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए प्रस्तुत अध्याय का विवेचन निम्न रूप में किया जा सकता है।

राज्य : उत्पत्ति :- राज्य के नियामक तत्वों में इसकी उत्पत्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन ग्रन्थों के अनुशीलन से राज्य की उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। महाभारत और दीघनिकाय में सृष्टि के आदिकाल में स्वर्ण-युग की कल्पना का वर्णन मिलता है। यूनानी एवं फ्रांसीसी विद्वान प्लेटो तथा रूसो ने भी आदिमकाल में स्वर्णयुग की परिकल्पना की है[1]। पुष्पदन्त के महापुराण में भी सृष्टि के आरम्भ में स्वर्ण-युग का वर्णन आया है। आदि-काल में राज्य का आविर्भाव नहीं हुआ था और प्रजा पूर्णतः सुखी एवं सम्पन्न थी। कल्पवृक्षों द्वारा व्यवस्था नियन्त्रित होती थी। तत्पश्चात् माँग की आपूर्ति पूरी न होने से व्यवस्था में व्यवधान उत्पन्न हो गया। इसके निवारणार्थ योनिज- पुरुष (कुलकर) उत्पन्न हुए और मनुष्यों ने इनसे उभय-पक्षीय समझौता किया[2]।

पुष्पदन्त के महापुराण में राज्य की उत्पत्ति विषयक सिद्धान्तों में सामाजिक समझौते पर विशेष बल दिया गया है। राज्य दैवी संस्था न होकर मानवीय संस्था थी। इसका निर्माण प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों

द्वारा पारस्परिक समझौते के आधार पर हुआ है। आदिकाल में यौगलिक व्यवस्था थी। एक युगल जन्म लेता और वही युगल अन्य युगल को जन्म देने के बाद समाप्त हो जाता था। इस प्रकार के अनेक युगल थे[3]। कालांतर में प्रकृति में परिवर्तन से प्राकृतिक साधनों का ह्रास होने के कारण राजनीतिक समाज की स्थापना हुई। समय- समय पर चौदह कुलकरों का जन्म प्रजा के दु:ख एवं विपत्तियों के निवारणार्थ हुआ[4]। महापुराण में वर्णित है कि कर्मभूमि के पूर्व भोगभूमि में सज्जनों के रक्षार्थ दुष्टों को दण्ड देने की समस्या ही न थी क्योंकि समाज में अपराध का अभाव था। कालान्तर में कर्मभूमि में राजा के अभाव के कारण प्रजा में "मात्स्य- न्याय" की प्रधानता थी। जिस प्रकार बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती है उसी प्रकार सबल व्यक्ति निर्बल को त्रस्त करने लगे थे[5]। जैन महापुराण के समकालीन वसुबन्धु आदि आचार्यों ने भी उक्त प्रकार का मत व्यक्त कर उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि की है[6]। यही नहीं जैनेतर ग्रन्थों में भी "मात्स्य-न्याय" का विवरण मिलता है[7]।

<u>राज्य के प्रकार :-</u> राज्य की उत्पत्ति के साथ ही अनेकश: समस्याएँ भी उत्पन्न हुईं। पुष्पदन्त के महापुराण में उन समस्याओं के समाधानार्थ साधनों का उल्लेख किया जा सकता है जो निम्न है - अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्ड[8]। पद्मपुराण में उल्लिखित है कि एक देश नाना जनपदों से व्याप्त होता है जिसमें पत्तन, ग्राम, संवाह, पुटभेदन, घोष तथा द्रोणमुख इत्यादि आते हैं।[9]

प्राचीन ग्रन्थों के अनुशीलन से राज्य के प्रकारों पर प्रकाश पड़ता है। कौटिल्य ने द्वैराज्य का वर्णन किया है।[10] प्राचीन भारत में संघ- राज्य का

वर्णन मिलता है।[11] कालिदास ने अपने ग्रन्थों में राज्य के छः प्रकारों का वर्णन किया है जो निम्न है - राज्य, महाराज्य, आधिराज्य, द्वैराज्य, साम्राज्य तथा सार्वभौम (चक्रवर्ती राज्य)।[12]

जैनग्रन्थ आचारांग सूत्र में अनेक प्रकार के राज्यों का विवरण मिलता है यथा गणराज्य, द्विराज्य और वैराज्य।[13] पद्मपुराण[14] में एक राज्य का वर्णन मिलता है, परन्तु कभी-कभी दो राजाओं द्वारा संयुक्त रूप से शासन करने का उल्लेख मिलता है जिसे महापुराण[15] में द्वैराज्य की संज्ञा से अभिहित किया गया है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि राज्य के अनेक प्रकार थे।

उद्देश्य एवं कार्य :- पुष्पदन्त के महापुराण में उस राज्य की कठोर निन्दा की गयी है जिसमें अन्याय एवं अत्याचार होता है तथा प्रजा दुःखी रहती है।[16] अल्टेकर के मतानुसार शान्ति, सुव्यवस्था की स्थापना और जनता का सर्वाङ्गीण नैतिक, सांस्कृतिक तथा भौतिक समुन्नयन करना राज्य का उद्देश्य था।[17] राज्य के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-[18]

1- आवश्यक कार्य :- बाह्य शत्रु के आक्रमण से रक्षा, प्रजा के जानमाल की सुरक्षा, शान्ति-सुव्यवस्था और न्याय का उचित क्रियान्वयन आदि इस कार्य के अन्तर्गत् आते हैं।

2- ऐच्छिक कार्य :- शिक्षा, दान, स्वास्थ्य, रक्षा, व्यवसाय, डाक एवं यातायात का प्रबन्ध, जंगल तथा खानों का विकास, दीन-अनाथों की देख-रेख आदि ऐच्छिक कार्य के अन्तर्गत् आते हैं।

जैन महापुराण में राज्य के उद्देश्य एवं कार्यों का विस्तृत वर्णन नहीं प्राप्त होता है फिर भी उनके अनुशीलन से उक्त विचारों का ही द्योतन

होता है। जैनाचार्यों ने राज्य को मनुष्यों का सर्वांगीण विकास का मुख्य बिन्दु स्वीकार किया है। इसलिए प्रजा के कल्याणार्थ राजाओं को सचेष्ट रहने का संकेत है।

सप्तांग सिद्धान्त :- महापुराण में राज्य की सात प्रकृतियों {अंगों} का वर्णन प्राप्त होता है - स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, धन, सुधि, बल तथा दुर्ग।[19] जैनेतर ग्रन्थों में भी राज्य के सप्तांगों की विवेचना मिलती है।[20] पुष्पदन्त के महापुराण में प्राप्य सात अंगों का विवेचन निम्न रूप में किया जा सकता है -

1- स्वामी :- राज्य के सप्तांगों में स्वामी या राजा का महत्व सर्वोपरि है।[20अ] प्रजा- परिपालन, कुलपरिपालन, मति- परिपालन, आत्मपरिपालन और और समंजसत्व परिपालन राजा का प्रधान कार्य था।[21] अनेक उल्लेखों से ऐसा प्रकट होता है मानों राजा राज्य का पर्याय है। मनु ने तो राजा को काल का भी कारण माना है।[22] मनु के अनुसार जब राजा पूर्णरूप से दण्डनीति का प्रयोग करता है तभी कृतयुग {सतयुग} होता है। उस समय अधर्म का सर्वथा अभाव होता है और सभी व्यक्ति अपने- अपने धर्म का पालन करते हैं।[23] अत: स्पष्ट हो जाता है कि राज्य में राजा को सर्वोपरि स्थान प्राप्त था।

2- अमात्य :- राज्य के सप्तांगों में अमात्य को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्य है।[24] वह राजा और राष्ट्र दोनों का उत्तरदायित्व वहन करता है। प्राचीनकाल में राजपदाधिकारियों और राजकर्मचारियों को अमात्य कहा गया था।[25] मनु ने सचिव और अमात्य को एक ही अर्थ में व्यवहृत किया है।

3- राष्ट्र :- राज्य का तीसरा अंग राष्ट्र है। "राष्ट्र" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में उपलब्ध है।[25अ] महापुराण में उद्धृत है कि राष्ट्र की प्रजा की सुरक्षा एवं सुव्यवस्था हेतु राजा होता है, जो इनकी सुख-समृद्धि एवं व्यवस्था का देखभाल करता है। प्रजा इसके लिए राजा को कर देती है।[26] आदिपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[27] जैनेतर अग्निपुराण में राष्ट्र को राज्य के सप्तांगों में शिखर स्थान प्राप्य है।[28]

4- धन :- किसी भी देश का समुन्नयन धन सम्पत्ति पर आधारित होता है। प्राय: सभी शास्त्रकारों ने धन या कोश की महत्ता के दृष्टिकोण से राजा को सर्वप्रथम अपने कोश की परिपूर्णता पर ध्यानाकर्षित किया है।[29] प्राचीन ग्रन्थों में कोश को राज्य का मूल आधार स्वीकार किया गया है और उसकी सुव्यवस्था पर बल दिया गया है।[30] पुष्पदन्त के महापुराण में धन या कोष को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है।[31] जैनपुराणों ने भी कोष को महत्वपूर्ण बताते हुए दूषित कहा है।[32] जैनाचार्यों ने लक्ष्मी को पापयुक्त बताया है।[33]

5- सुहृद :- राज्य संस्था के लिए यह आवश्यक है कि कतिपय अन्य राज्यों से भी मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया जाये। महापुराण में वर्णित है कि मित्र राज्य ऐसा होना चाहिए जो स्थायी हो जिसमें नियन्त्रण की क्षमता हो, जिसे अपने विरुद्ध न किया जा सके और जो शीघ्रता के साथ बड़े पैमाने पर युद्ध की तैयारी कर सकने में समर्थ हो।[34] पद्मपुराण के अनुसार भी युद्धकाल में विजय प्राप्त करने के लिए मित्र राजा का सहयोग प्राप्त होना आवश्यक होता है।[35] जैनेतर ग्रन्थों में भी मित्र के महत्व एवं गुण की विवेचना मिलती है।[36]

6- बल या सेना :-

--------------- महापुराण में अनेक प्रकार की सेनाओं का वर्णन मिलता है। जिनमें हस्तिसेना, अश्वसेना, रथ- सेना एवं पैदल- सेना।[37] शुक्रनीतिसार में भी सेना के महत्व और संगठन का विशद रूप से वर्णन किया गया है।[38]

7- दुर्ग :-

-------- राज्य के स्वरूप के सात अंगों में दुर्ग भी एक है। उसका भी महत्व अ बहुत अधिक था। दुर्ग को ही उस समय राजधानी के नाम से जाना जाता था। पुरातन काल से ही राज्य के संचालन एवं सुरक्षा की दृष्टि से दुर्ग का महत्वपूर्ण स्थान था। जिस देश के दुर्ग मजबूत नहीं होते थे, शत्रु आक्रमण कर उस देश को अपने देश में मिला लेते थे। इनमें सेनाऐं रहा करती थी। इनसे शत्रु के आक्रमण काल में अपनी सुरक्षा तथा सुचारू रूप से युद्ध संचालन होता था।[39] महापुराण में विवेचित है कि दुर्ग यन्त्र, शस्त्र, जल, घोड़, यव तथा रक्षकों से भरे रहते थे।[40] आदिपुराण से भी उक्त तथ्यों की पुष्टि होती है।[41]

उपरोक्त विवेचन से राज्य के सप्तांगों के विषय में कतिपय महत्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अनुसरण करते हुए परवर्ती राजनीति विषयक ग्रन्थकारों ने स्वामी, अमात्य एवं राष्ट्र के पश्चात् दुर्ग, कोश, बल एवं सुहृद् को स्थान दिया है। इसके विपरीत पुष्पदन्त के महापुराण में स्वामी, अमात्य एवं राष्ट्र का उल्लेख करने के पश्चात् धन, सुहृद या सुधि, बल एवं दुर्ग का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि दसवीं शताब्दी में धन एवं सुहृद का महत्व दुर्ग की अपेक्षा अधिक हो गया था। यही कारण है कि दुर्ग को सबसे अन्त में स्थान दिया गया है।

राजनय के चतुष्टय सिद्धान्त :-

महापुराण में राजनय के चार मूल तत्वों को विवेचना प्राप्त है, जो राज्य शासन के मूल तत्व थे, वे निम्न हैं- साम, दान, दण्ड और भेद।[42] जैनेतर साक्ष्यों से भी राजनय के चतुष्टय सिद्धान्त - साम, दाम, दण्ड एवं भेद पर समुचित प्रकाश पड़ता है।[43] आदि पुराण से भी चतुष्टय सिद्धान्त का वर्णन मिलता है।[44]

स्वराष्ट्र और परराष्ट्र नीति :-

जैन महापुराण के अनुशीलन से स्वराष्ट्र और परराष्ट्र नीति पर प्रकाश पड़ता है।[45] महापुराण के अनुसार राजा अपने मन्त्रिमण्डल, राजपुत्रों, राज्यपालों, सहयोगियों तथा कर्मचारियों आदि के माध्यम से स्वराष्ट्र की व्यवस्था का संचालन करता था। जैनाचार्यों ने अमात्यों के साथ स्वराष्ट्र और परराष्ट्र पर विचार-विमर्श करने के लिए राजा को निर्देश दिया है।[46] आदिपुराण से भी उक्त मत की पुष्टि होती है।[47] पद्मपुराण में वर्णित है कि विदेशों में राजा अपने राजदूत नियुक्त करते थे।[48]

राजनय के षड्-सिद्धान्त :-

राजनय के मूल तत्वों में षड्-सिद्धान्त अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इन सिद्धान्तों का उपयोग पर राष्ट्रों पर होता था। इनका समुचित प्रयोग कर राजा सफलता के शिखर पर अधिष्ठित होता था। पुष्पदन्त के महापुराण में सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव षड्-सिद्धान्त हैं।[49] आदिपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[50]

1 - सन्धि :-

युद्धरत दो राजाओं में मैत्रीभाव हो जाना ही सन्धि कहलाती है।[51] सावधि और अवधिरहित दो प्रकार की सन्धि होती है।

2- विग्रह :-

शत्रु तथा उसे जीतने वाला अन्य विजयी राजा दोनों ही परस्पर एक दूसरे का जो अपकार करते हैं उसे विग्रह कहते हैं।[53] आदि-पुराण में भी यही बात कही गयी है।[54]

3- आसन :-

जब कोई नृप न तो दूसरे राज्य पर आक्रमण करता है और न तो दूसरा उसके राज्य पर आक्रमण करता है अर्थात् जो राजा शान्तिभाव से रहता है, उसे आसन कहते हैं।[55]

4- यान :-

शत्रु पर आक्रमण करना ही यान कहलाता है। यह यान अपनी वृद्धि और शत्रु की हानि का फलदायक है।[56]

5- संश्रय :-

जो आश्रयहीन है, उसे आश्रय देना ही संश्रय है।[57]

6- द्वैधीभाव :-

शत्रुओं में सन्धि और विग्रह करा देना ही द्वैधीभाव है।[58]

जैनेतर साक्ष्यों[59] से भी हमारे आलोच्य महापुराण के षड्- सिद्धान्त की पुष्टि होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी मतों के आचार्यों ने राजनय में षड्- सिद्धान्त को स्वीकार किया था।

राजा और शासन- व्यवस्था -

राजा का महत्त्व :-

राज्य में राजा का महत्त्व सर्वोपरि था। राजा के अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती थी। उसी के आदेशानुसार सम्पूर्ण राज्य- व्यवस्था संचालित होती थी। कौटिल्य ने राजा को ही राज्य स्वीकार किया है।[60] महापुराण में विवेचित है कि पृथ्वी

पर मनुष्यों को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के उपभोग का अधिकार प्राप्य है, किन्तु राजाओं द्वारा सुरक्षित होने पर ही ये मनुष्यों को प्राप्त होते हैं।[61] यही विचार आदिपुराण तथा जैनेतर साहित्य में भी उपलब्ध है।[62] महापुराण में उल्लिखित है कि राजा चारों वर्णों एवं आश्रमों का रक्षक होता था।[63] आदिपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[64] जैनेतर साहित्य में भी राजत्व में देवत्व की मान्यता मिलती है।[65] महापुराण में रत्न सहित नव निधियाँ, रानियाँ, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, वर्तन, भोजन एवं वाहन आदि राजा के दस भोग के साधन मिलते हैं।[66] राजा का पद कुलपरम्परा से प्राप्त होता था।[67]

राजा की उपाधियाँ :-

पुष्पदन्त के महापुराण के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि उस समय राजाओं द्वारा महत्वपूर्ण उपाधियाँ धारण की जाती थी। उस समय राजागण दिखावे में अपनी शक्ति से अधिक ऊँची- ऊँची उपाधियाँ धारण करते थे जो निम्न थी- चक्रवर्ती,[63] प्रजापति,[68अ] महीपति,[69] माण्डलिक,[70] महामाण्डलिक,[70अ] मण्डलेश्वर,[70ब] महामण्डलेश्वर,[70स] अर्द्धमण्डलेश्वर,[70द] राजाधिराज,[71] स्वामी,[72] नृप,[73] राजा,[74] वसुन्धरानाथ,[75] पृथ्वीनाथ[76] आदि ।

जैनेतर स्रोत से भी उक्त प्रकार की राजाओं की उपाधियों का विवरण मिलता है, जो उनकी शक्ति का द्योतक है। महाभारत में राजाओं के लिए राजन्, राजेन्द्र, राज्ञ, नृप, नृपति, नराधिप, नरेन्द्र, नरेश्वर, मनुजेन्द्र, जनाधिप, जनेश्वर, पार्थिव, पृथ्वीश्वर, पृथ्वीपाल, पृथ्वीपति, भूमिप, क्षितिभुज, विशांपति, लोकनाथ आदि उपाधियाँ प्रयुक्त हुई हैं।[77] कालिदास ने अपने ग्रन्थों में भगवान्, प्रभु, जगदेशनाथ, ईश्वर,

ईश, मनेष्येश्वर, प्रजेश्वर, जनेश्वर, देव, नरदेव, नरेन्द्रसम्भव, मनुष्य-देव, राजेन्द्र, वसुधाधिप, राजा, भूमिपति, अर्थपति, प्रियदर्शन, भवोभर्तुः, महीक्षित, विशांपति, प्रजाधिप, मध्यम लोकपाल, गोप, महीपाल, क्षितीश, क्षितिप, नरलोकपाल, अगाधसत्व, दण्डधर, पृथिवीपाल, भट्टारक आदि उपाधियों का प्रयोग राजा के लिए किया है।[77अ] जैन पुराणों के रचनाकाल में राजा निम्न प्रकार की उपाधियाँ धारण करते थे - परमभट्टारक, राजा, नृप, महाराजाधिराज, चक्रवर्तिन, परमेश्वर, देव, परमदेवता, सम्राट्, एकाधिराज, सर्वभौम, महाराजाधिराज आदि।

उक्त प्रकार की उपाधियाँ पुष्पदन्तकालीन नृप वर्ग भी धारण करते थे।

पुरातात्त्विक साक्ष्यों से भी महापुराण के रचनाकाल में राजाओं द्वारा वैसी ही उपाधि धारण करने के प्रमाण मिलते हैं। हर्ष के मधुबन अभिलेख से ज्ञात होता है कि गुप्त राजाओं की परमभट्टारक एवं महाराजाधिराज उपाधियाँ उसके समय में भी प्रचलित थीं। दकन के राष्ट्रकूट राजवंश के राजा कृष्णराज तृतीय {10वीं शती} अकालवर्ष, महाराजाधिराज, परममाहेश्वर, परमभट्टारक, पृथ्वीवल्लभ, श्री पृथ्वीवल्लभ, समस्तभुवनाश्रय, कन्धारपुराधीश्वर आदि उपाधियाँ धारण करता था। ग्यारहवीं शती के परमार राजा परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि उपाधियाँ धारण करते थे। बारहवीं शती के गहड़वालवंशीय राजा परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परममाहेश्वर, गजपति, नरपति, राजत्रयाधिपति, विविधविचारविद्यावाचस्पति उपाधियाँ धारण करते थे। राजागण अपनी शक्ति से अधिक ऊँची-ऊँची उपाधियाँ धारण करते थे।[79]

अतः स्पष्ट है कि महापुराणकाल में राजाओं ने ऊँचो- ऊँचो उपाधियाँ धारण करने का शौक था। वे अपने को महत्वपूर्ण दिखाने के लिए अपनी शक्ति से अधिक ऊँचो उपाधियाँ धारण करते थे।

राजा के गुण एवं अवगुण :-

जैन आगमों तथा पुष्पदन्त के महापुराण में राजाओं के गुणों का वर्णन प्राप्त होता है। महापुराण के अनुसार राजा को जैन धर्म के रहस्य का ज्ञाता, शरणागत वत्सल, परोपकारो, दयावान, विद्वान, विशुद्ध हृदयी, निन्दनोय कार्यों से पृथक, पिता के तुल्य प्रजारक्षक, शत्रुसंहारक, शस्त्राभ्यास का अभ्यासो, शान्ति कार्य में अथक्य, परस्त्रो से विमुख, धर्म में रुचि, सत्यवादी और जितेन्द्रिय होना चाहिए[30]। अन्य पुराणों से भो इसको पुष्टि होतो है[31]। महापुराण में स्वरक्षा करते हुए प्रजापालन करना हो राजा का मौलिक गुण माना गया है[32]। जैनेतर साहित्य से भो इसको पुष्टि होतो है[33]।

महापुराण में वर्णित है कि राजा अपने चित्त का समाधान करते हुए दुष्ट पुरुषों का निग्रह और शिष्ट पुरुषों का पालन करता है, यहो उसका समंजसत्व गुण है[34]। आदिपुराण से भो इसको पुष्टि होतो है[35]। महापुराण में वर्णित है कि सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संस्था और द्वैधोभाव का होना राजा में अनिवार्य है[36]। आदिपुराण में भो यहो वर्णित है[37]। महापुराण के अनुसार राजा को साम, दाम, दण्ड एवं भेद का ज्ञान होना चाहिए[38]। आदिपुराण से भो इसको पुष्टि होती है[39]। जैनपुराणों के समान हो जैनेतर साधनों से भो राजा के गुणों पर प्रकाश पड़ता है[40]।

जहाँ पर एक ओर राजा के गुणों का वर्णन किया गया है, वहाँ दूसरी ओर उसके अवगुणों का भी वर्णन किया गया है। महापुराण में वर्णित है कि

राजा को नारी, द्यूत, मदिरा, आखेट, धन का नाश, कठोर वचन और कठोर दण्ड, इन सप्त व्यसनों से बचना चाहिए।[91] इसी महापुराण में वर्णित है कि काम, क्रोध, मद और लोभ का भी राजा को परित्याग करना चाहिए।[92] इनके परित्याग से लक्ष्मी उत्पन्न होती है तथा राज्य सुचारू ढंग से चलता है।

राजा के उपहार :-
------------- अधीनस्थ राजाओं, ऋषियों एवं प्रजाओं द्वारा राजा को उपहार प्राप्त होते थे। जैन महापुराण में वर्णित है कि हार, मुकुट, कुण्डल, रत्न, वस्त्र, तीर्थोदक, चूड़ामणि, कण्ठहार, सुवर्ण, मोती, कन्या, मृगनाभि आदि बहुत सी वस्तुऐं राजा को उपहार स्वरूप प्रदान की जाती थीं।[93] अन्य पुराणों में भी इसी प्रकार के उपहार का वर्णन प्राप्त होता है।[94]

पुरातात्त्विक साक्ष्यों से भी राजाओं को उपहार प्रदान करने का संकेत प्राप्त होता है। प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित है कि समुद्रगुप्त को उसके अधीन राजाओं ने आत्मनिवेदन, कन्यादान एवं अपने- अपने क्षेत्रों के उपयोग के निमित्त गरूड़ मुद्रा से अंकित राजाज्ञार्थ प्रार्थनापत्र और विविध उपायों द्वारा उसकी सेवा की थी।[95]

राजा के अधिकार एवं कर्त्तव्य :-
------------------------ राजा अपने राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था। वह राजतंत्र, सेना, प्रशासन तथा न्यायपालिका का प्रधान होता था।[96] वह अपने देश के उच्च अधिकारियों, राजदूतों, मंत्रियों एवं राज्यपालों को नियुक्त करता था। महापुराण में वर्णित है कि राजा को कुल- परिपालन, मति- परिपालन, आत्म- परिपालन, प्रजा-

परिपालन और ममत्व का परिपालन करना चाहिए।[97] उक्त महापुराण में वर्णित है कि वह अपने राज्य में धर्म, अर्थ और काम के सम्बन्धार्थ अनेक प्रकार के कार्य करता था।[98] महापुराण में वर्णित है कि राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह वर्णाश्रम धर्म को वर्णसंकरता से सुरक्षित रखें।[99] इससे स्पष्ट होता है कि समाज में उस समय संक्रमण काल चल रहा था। जैनाचार्यों ने भी वर्ण संकरता को रोकने का प्रयास किया है। जैनेतर आचार्यों ने राजा का प्रमुख कर्त्तव्य प्रजा रक्षा माना है,[100] किन्तु पुराण में नौ नारद स्मृति में पाँच तथा मनुस्मृति में आठ प्रकार के राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन मिलता है।[101] कृष्ण घोष का मत है कि भारतीय राजनीतिशास्त्र में प्रजा का प्रभुत्व उसके व्यक्तिगत रूप में न मानकर शासकीय नियमों के संरक्षक के रूप में स्वीकार किया गया है।[102]

राजा- प्रजा सम्बन्ध :-
------------------ प्राचीन ग्रन्थों में राजा को प्रजा का सेवक स्वीकार किया गया है। प्रजा राजा को अपनी आय का षष्ठांश कर के रूप में प्रदान करती थी, यही राजा की आय होती थी।[103] पुष्पदन्त के महापुराण में भी प्रजा की आय षष्ठांश भाग कर के रूप में ग्रहण करने का उल्लेख आया है।[103अ] आलोच्य जैन पुराणों में वर्णित है कि प्रजा राजा का अनुकरण करती थी।[104] जैनेतर ग्रन्थों से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है कि प्रजा के सुख में राजा का सुख था और प्रजा के हित में राजा का भी हित था। अतः राजा को अपना हित न देखकर प्रजा का हित देखने का निर्देश दिया गया है।[105] पुष्पदन्त के महापुराण में भी राजा के लिए प्रजा- सेवा को प्रमुख रूप से स्वीकार किया गया है।[106] महापुराण में वर्णित

है कि राजा को अपनी प्रजा का पालन उस प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार ग्वाला अपनी गाय को अंगच्छेद आदि का दण्ड नहीं देता, उसी प्रकार राजा को भी दण्ड देने में अपनी प्रजा के साथ न्यायोचित उदारता करनी चाहिए, इसके अतिरिक्त ग्वाले के समान राजा को अपनी प्रजा के रक्षार्थ दवा देना, सेवा करना, आजीविका का प्रबन्ध करना चाहिए।[107] हरिवंशपुराण में भी उल्लिखित है कि राजा को प्रजा के साथ पिता तुल्य व्यवहार करना चाहिए।[108] जैनेतर अग्निपुराण में भी वर्णित है कि जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपने उदरस्थ शिशु के परिपालन के लिए अपने समस्त सुखों का परित्याग कर देती है उसी प्रकार राजा को अपनी प्रजा-पालन के लिए समस्त सुखों का परित्याग कर देना चाहिए।[109]

राजा के उत्तराधिकारी : चयन, शिक्षा और राज्याभिषेक :-

महापुराण के अनुसार राजा का उत्तराधिकारी राजा का ज्येष्ठ पुत्र होता था, उसके बाद राजा के छोटे पुत्र को उत्तराधिकारी बनाया जाता था। लघु पुत्र के राज्य ग्रहण करने पर ज्येष्ठ पुत्र के ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देने का सामान्य नियम था।[110] उक्त महापुराण में यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि राज्य का उत्तराधिकार वंश-परम्परा की पद्धति पर ही निर्भर था।[111] जैनेतर आचार्यों ने भी पिता की सम्पूर्ण सम्पत्ति का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र को स्वीकार किया है।[112] महापुराण में वर्णित है कि राजा अपने ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी देते समय सभी सभासदों की उपस्थिति में अपना मुकुट उसके मस्तक पर पहनाता था।[113] विशेष परिस्थिति में महापुराण में इस प्रकार की व्यवस्था प्राप्य है कि राजा के अकाल मृत्यु हो जाने पर अथवा अन्य कारण से यदि उसका उत्तराधिकारी अल्पायु होत

था तो राज्य का कार्य राजमाता के संरक्षण में होता था।[114] पद्मपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[115] जैन आगम एवं जैन पुराणों के अनुसार स्त्री को राज्य का उत्तराधिकारी स्वीकार नहीं किया गया था परन्तु वयस्क सन्तान न होनेसे राज्य- संचालन के लिए नियमों में शिथिलता थी।[116] राजा के निष्पुत्र मर जाने पर उसके उत्तराधिकारी का निर्वाचन मंत्रियों द्वारा अभिवासित (पूजित) एक श्रेष्ठ हाथी से सम्पन्न कराया जाता था। सिंह-केतु को इसी प्रकार राज्याधिकार प्राप्त हुआ था।[117]

जैन आगम और जैन महापुराण के परिशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय उत्तराधिकार के लिए युद्ध भी होते थे।[118] पाण्डवपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[119]

पुष्पदन्त के महापुराण में राजकुमारों को अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति इन चार राजविद्याओं के अध्ययन को आवश्यक एवं अनि-वार्य बताया गया है।[120] जैनेतर ग्रन्थों से भी इसकी पुष्टि होती है।[121]

जैन आगम साहित्य में राजकुमार के राज्याभिषेक का बहुत सुन्दर चित्रण आया है।[122] महापुराण में वर्णित है कि राजा के अभिषेक के शुभ अवसर पर अत्यधिक राजागण उपस्थित होते थे। इस शुभ अवसर पर विभिन्न प्रकार के वाद्य, शंख झालर, दुन्दुभि आदि बजाये जाते थे तथा सुवर्ण एवं रजत के कलशों से राजा को स्नान कराया जाता था तदुपरान्त राजा को मुकुट, अंगद, केयूर, हार आदि आभूषणों से सुशोभित कर वस्त्रादि से विभू-षित किया जाता था। राजा के अभिषेक के बाद साम्राज्ञी का भी अभिषेक किया जाता था।[123] जैनेतर ग्रन्थों से भी इसकी पुष्टि होती है।[124]

राजतन्त्र की सीमाएँ :- जैनाचार्यों ने राजतन्त्र को सीमित करने का प्रयत्न किया था। महापुराण में वर्णित है कि जब राजा दुराचारी एवं अत्याचारी हो जाता था तो प्रजा उसके राज्य से ऊबकर अन्य राजा के राज्य में चली जाती थी।[125] अन्य ग्रन्थों में राजा को दण्डित करने की व्यवस्था करते हुए विवेचित है कि दुष्ट, पापी, अन्यायी एवं अधर्मी राजा का बध करना न्यायसंगत था।[126]

राजा का मंत्रिमण्डल :- राज्य-कार्य को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए अमात्यों को नियुक्त किया जाता था। सभी अमात्यों को सम्मिलित कर मंत्रिमण्डल का निर्माण होता था।[127] कौटिल्य ने मंत्रियों की सभा को "परिषद" बौद्ध जातकों में "महावस्तु" तथा अशोक के शिलालेख में "परिसा" वर्णित किया है।[128] आधुनिक युग में परिषद को ही मंत्रिपरिषद या मंत्रिमण्डल कहते हैं। जैन महापुराण में उल्लिखित है कि मंत्रिमण्डल के सदस्यों की निम्नतम संख्या चार एवं अधिकतम संख्या सात होती थी।[129] जैनेतर साक्ष्यों से भी मंत्रिमण्डल की संख्या के घटने-बढ़ने का विवरण प्राप्त होता है।[130] महापुराण के अनुसार मंत्रीगण राजा के कार्यों में परामर्श देते थे।[131] उक्त महापुराण से यह भी संकेत मिलता है कि मंत्रीगण राजा को युद्ध के समय नीति विषयक मंत्रणा भी देते थे तथा विजय प्राप्ति के लिए देवताओं का पूजन भी किया करते थे।[132] पद्मपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[133]

सामन्त व्यवस्था :-

पुष्पदन्त के महापुराण के परिशीलन से संकेत मिलता है कि आलोचित महापुराण के प्रणयनकाल में सामन्त व्यवस्था भी प्रचलित थी। महापुराण में वर्णित है कि अधीनस्थ राजा या सामन्तगण अपने स्वामी को कुलपरम्परानुसार धन-धान्य, कन्या, अन्य अनेक सामग्री प्रदान कर उनकी पूजा करते थे।[134] म्लेच्छ राजा चामरी गाय के बाल और कस्तूरी मृग की नाभि अपने राजा को भेंट में देते थे।[135] राजा द्वारा युद्ध-काल में अधीनस्थ सामन्तों को युद्ध में सहयोगार्थ आमन्त्रित करने[136] तथा आवश्यकतानुसार उन्हें दूत के रूप में अन्य राजा के यहाँ भेजने का वर्णन पद्मपुराण में प्राप्त होता है।[137] अधीनस्थ राजा या सामन्त वृष, नाग, वानर प्रभृति चिन्हित पताकाएँ धारण करते थे।[138]

पुष्पदन्त महापुराण के उक्त तथ्यों की पुष्टि अभिलेखीय साक्ष्य से भी होती है। समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्ति में उत्कीर्ण है कि अधीनस्थ राजा अपने स्वामी को यथाशक्ति धन एवं कन्या आदि उपहार स्वरूप प्रदान स्वामी द्वारा अनुदिष्ट चिह्न धारण करते थे।[139] अभिलेखीय साक्ष्यों से यह भी विदित है कि गुप्तकाल से सामन्त व्यवस्था का प्राधान्य हो जाता है।[139अ]

आलोचित महापुराण के प्रणयनकाल के जैनेतर साक्ष्यों से भी सामन्त व्यवस्था का वर्णन प्राप्त होता है।[140] रामशरण शर्मा के अनुसार सामन्त व्यवस्था का उद्भव मौर्योत्तर काल एवं विकास गुप्तकाल में हुआ था।[141] छठी शती में विजित जागीरदारों को सामन्त के रूप में मान्यता प्रदान की गयी थी।[142] सातवीं शताब्दी से अधिकारियों को बड़ी-बड़ी सामन्ती उपाधियाँ प्रदान की जाने लगी। भास्करवर्मन के कोषाध्यक्ष दिवाकर प्रभ

को महासामन्त की उपाधि प्राप्त हुई थी।[142अ] हर्षवर्धन के राज्याधिकारी भी इसी प्रकार की उपाधि से विभूषित थे। इसी काल में अधिकारियों और अधीनस्थ सामन्त सरदारों को "प्राप्त- पंच महाशब्द" की उपाधि से विभूषित किया गया। "प्राप्त- पंच महाशब्द" की उपाधि उस समय राजागण भी धारण करते थे। पश्चिमी भारत में गुर्जर राजा ददद द्वितीय ने उक्त उपाधि धारण की थी[142ब] और सातवीं सदी के तृतीय चरण में उसने यह गौरव सेन्द्रकों को प्रदान किया था।[142स] अल्टेकर के अनुसार राष्ट्रकूट सरदार नन्नराज को भी पंचमहाशब्द की उपाधि प्राप्त थी। इसका वर्णन नन्नराज के 631-32 के एक दानपत्र में मिलता है।[142द] यह उपाधि पहले सर्वोच्च सत्ताधारी ही धारण करते थे परन्तु बाद में यह उपाधि सामन्तों को भी प्रदान की जाने लगी।

गुप्तकाल में ग्रामप्रधान को अर्द्धसामन्त के रूप में जाना जाता था।[142इ] पाँचवीं शदी के अभिलेखों में आयुक्तक का वर्णन मिलता है। आयुक्तक एक ग्राम अधिकारी होता था और ग्रामवासियों द्वारा कृषि से पैदा की गई वस्तुओं में से एक अंश पर अपना निर्वाह करता था और शेष हिस्सा वसूल कर राजा को भेज देता था।[142फ] वह कृषक स्त्रियों से बेगार भी ले सकता था। जबकि पहले केवल राजा ही बेगार ले सकता था। कौटिलय ने पड़ोसी जागीरदारों की स्वतन्त्र सत्ता का भी वर्णन किया है।[143] पाँचवीं शती में सामन्त शब्द दक्षिण भारत में भूस्वामी का बोधक बन गया था।[144] पाँचवीं शती के अंतिम भाग में दक्षिण तथा पश्चिम भारत के दानपत्रों में सामन्त शब्द का प्रयोग जागीरदार (भूस्वामी) के अर्थ में हुआ है।[145] यशोधर्मन (525-35 ई0) के

मंदसौर प्रस्तर स्तम्भ से ज्ञात होता है कि उसने उत्तर भारत के सामन्तों को पराजित किया था।[145अ] 7वीं शताब्दी में बलभी शासक सामन्त- महाराज और महासामन्त की उपाधि धारण करते थे। शनैः शनैः सामन्त शब्द का प्रयोग पराजित सरदारों के अतिरिक्त राज्याधिकारियों के लिए भी होने लगा। इस प्रकार कलचुर-चेदि युग के अभिलेखों में 597 ई० से उपरिकों और कुमारामात्यों का स्थान राजाओं और सामंतों ने ले लिया।[145ब] हर्षवर्धन के भूमि- अनुदानपत्रों में भी सामन्त- महाराज और महासामन्त शब्दों का प्रयोग बड़े- बड़े राज्याधिकारियों की उपाधियों के रूप में किया गया है।[145स] बाण ने सामन्तों के कर्त्तव्यों का संकेत किया है। उसने हर्षचरित में यह स्पष्ट किया है कि पुष्पभूति ने अपने महासामन्तों को करद (कर देने वाला) बना लिया था।[145द] सम्राट सामन्तों द्वारा प्रशासित प्रदेशों की प्रजा से कर न लेकर उन सामन्तों से ही लेता था।[145इ] अतः स्पष्ट है कि सामन्त ही अपने- अपने अधीनस्थ क्षेत्रों में राज- कर के लिए उत्तरदायी थे।

वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार पराजित राजाओं को सामन्त बनाया जाता था और उनसे तीन तरह की सेवाएँ ली जाती थी जो निम्न है - वे चँवरधारी का काम करते थे जैसा कि हर्ष के राज दरबार में पराजित शत्रु- महासामन्त किया करते थे।[145फ] वे अपने हाथ में बेत लेकर दरबार में द्वारपाल का कार्य करते थे तथा कुछ सामन्त राजा की शुभ- कामना करते हुए उसका जयकार किया करते थे।[145ग] बाण के कादम्बरी में भी इसी तरह का वर्णन है।[145ह] शान्तिकाल में सामन्तों का कुछ प्रशासनिक

या न्यायिक कर्त्तव्य था या नहीं, इसकी जानकारी न तो स्मृतियों में होती है और न हर्षचरित से। कादम्बरी से ज्ञात होता है कि अपनी बहन राज्यश्री के निधन से शोकसंतप्त हर्षवर्धन ने जब अन्न जल को त्याग दिया था, उस समय उसने उन प्रधान सामन्तों के कहने पर भोजन कर लिया, जिनकी बात की अवहेलना नहीं की जा सकती थी।[145ई] जब व्यक्तिगत मामलों में सामन्तों की सलाह को अस्वीकार नहीं किया जा सकता था तब फिर प्रशासनिक मामलों में उसकी अवहेलना कैसे की जा सकती थी क्योंकि इन विषयों में तो उनकी सहायता और सहयोग की भी परम आवश्यकता थी। सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में सामन्तों की स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ थी। इन्द्रराज ने एक ब्राह्मण को एक गाँव बिना अपने प्रभु की अनुमति के दान में दिया था।[145ज] वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि राजदरबार के सामन्त द्यूत-क्रीड़ा, पाँसा खेलना, बाँसुरी बजाना, राजा का चित्र बनाना, पहेलियाँ सुलझाना आदि मनोरंजन में भाग लेते थे। उक्त मनोरंजन के समय राजाओं की पत्नियों को भी राजदरबार में उपस्थित होना पड़ता था।[145क] इस प्रकार सामन्त सैनिक और प्रशासनिक दृष्टियों से ही नहीं बल्कि सामाजिक दृष्टि से भी अपने प्रभु से सम्बद्ध रहते थे।

बाण ने सामन्त, महासामन्त, आप्तसामन्त, प्रधानसामन्त, शत्रुमहासामन्त, अनुरक्त सामन्त, प्रतिसामन्त और करदीकृत महासामन्त आदि शब्दों का प्रयोग कर हर्षचरित में सामन्तों का वर्गीकरण किया है।[146] ये सभी सामन्त अपने-अपने स्वामी के सम्बन्धों के कारण अलग-अलग थे। इनमें महासामन्त सामन्त से एक श्रेणी ऊपर था और शत्रु सामन्त पराजित सरदार था।[246 अ] आप्तसामन्त वह था जो स्वेच्छा से अपने प्रभु की अधीनता स्वीकार कर लिया था। प्रधान सामन्त सम्राट के सबसे विश्वस्त व्यक्ति थे और राजा उनकी सलाह की उपेक्षा कभी नहीं करता था लेकिन प्रति-

सामन्त के विषय में विशेष जानकारी नहीं प्राप्त है।[146 ब] अनुरक्त सामन्त सम्राट के प्रति अनुरागयुक्त थे[145 स] तथा करदीकृत महासामन्त अपने राजा को कर देते थे। इससे इतना स्पष्ट है कि इस काल में सामन्त शब्द का चलन अच्छी तरह से हो गया था और सामन्तों के कम से कम छः प्रकार होते थे।

सामन्तों और राजाओं का मुख्य कर्त्तव्य अपने प्रभु के लिए सेना एकत्रित करना था। हर्ष के सैनिक अभियान से ज्ञात होता है कि उसकी विशाल सेना में राजाओं द्वारा दिये गये सैनिक और घोड़े शामिल थे।[146द] एहोल अभिलेख से पुष्ट होता है कि हर्ष अपने सामन्तों द्वारा जुटायी गयी सेना से सज्जित था।[146इ] अतः स्पष्ट है कि सामन्तों द्वारा अपने प्रभु के लिए सेना एकत्रित करने के परिणामस्वरूप प्रभु को सामन्तों का मुखापेक्षी बन जाना पड़ा होगा।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि आलोचित महापुराण के प्रणयनकाल में सामन्तों का अत्यधिक वर्चस्व था।

राजा के प्रमुख कर्मचारी :- राज्य को सुचारू रूप से संचालन के लिए विभिन्न प्रकार के कर्मचारियों की नियुक्ति करता था। राजा के आदेशों का कार्यान्वयन इन्हीं कर्मचारियों की सहायता से होता था। महापुराण में वर्णित है कि राजा अपने कर्मचारियों को समुचित सत्कारों द्वारा संतुष्ट रखता था जिसके कारण वे उस पर अनुरक्त रहते थे और वे कभी भी उस राजा को नहीं छोड़ते थे।[147] राजा के प्रमुख कर्मचारियों का वर्णन निम्नलिखित है -

(क) पुरोहित :- पुष्पदन्त के महापुराण में पुरोहित को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है।[148] राज्य की रक्षा के लिए पुरोहित की नियुक्ति आवश्यक थी। महापुराण में उल्लिखित है कि पुरोहित राजा को राज्य के

कल्याणार्थ परामर्श देता था और अनिष्ट कार्य के विचारणार्थ योग- क्षेम करता था।[149]

जैनेतर साहित्य से भी पुरोहित के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है। ऋग्वेदों से ज्ञात होता है कि युद्धस्थल पर मंत्र, योग तथा पूजा आदि द्वारा विजय प्राप्ति के लिए राजा के साथ पुरोहित भी जाया करते थे।[150] ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित है कि यदि राजा अधिक समय तक यज्ञादि अनुष्ठान में व्यस्त रहता था, तो उस समय पुरोहित ही राज-कार्य का संचालन करता था।[151] मानसोल्लास में वर्णित है कि त्रयी विद्या, दण्डनीति, शान्तिकर्म और शक्ति कर्म में कुशल व्यक्ति ही राज्य का पुरोहित होता था।[152] शुक्राचार्य ने शुक्रनीति में बताया है कि दण्डनीति ही एक ऐसी विद्या है जिस पर सभी अन्य विद्याओं का योगक्षेम निर्भर था।[153] याज्ञवल्क्यस्मृति में पुरोहित को ज्योतिष का ज्ञाता, समस्त शास्त्रों में समृद्ध, अर्थशास्त्र में कुशल और शान्तिकर्म में प्रवीण बतलाया है।[154] मनुस्मृति में भी मनु ने गृह्यकर्म और शान्त्यादि कर्मों में पुरोहित को प्रवीण बतलाया है।[155] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में पुरोहित को शास्त्र प्रतिपादित विद्याओं से युक्त, उन्नत, कुशलवान्, षड्वेदज्ञाता, ज्योतिषशास्त्र शकुनशास्त्र, दण्डनीतिशास्त्र में अत्यन्त निपुण दैवी मानुषी आपत्तियों के प्रतीकार में समर्थ होना बतलाया है।[156] इसी प्रकार शुक्र का कथन है कि जो मन्त्र और अनुष्ठान में सम्पन्न, वेदत्रयी का ज्ञाता, कर्मतत्पर जितेन्द्रिय, जितक्रोध, लोभ तथा मोह से रहित, वेद के षडांगों का ज्ञाता, धनुर्विद्या तथा धर्म का ज्ञाता, स्व और परराष्ट्र नीति का मर्मज्ञ हो, उसे ही पुरोहित माना है।[157] अल्तेकर का मत है कि वह राजधर्म और नीति का संरक्षक होता था। उसके अधीन धर्मार्थ विभाग होता था। इस विभाग के अधिकारी

को मौर्यकाल में "धर्म- महामात्य", सातवाहन युग में "श्रमण- महामात्र", गुप्तकाल में "विनय-स्थिति- स्थापक" और राष्ट्रकूल में धर्मांकुश वर्णित किया है।[158] संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि न्याय और धर्म का प्रतिनिधि राष्ट्र में पुरोहित होता था।

(ख) अमात्य :-

पुष्पदन्त महापुराण के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि राज्य में अमात्य का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण होता था।[159] मंत्री[160] तथा सचिव[161] शब्द भी अमात्य के लिए व्यवहृत हैं। आर० जी० बासाक ने अमात्य शब्द का तात्पर्य सहायक या साथी से किया है, परन्तु मंत्री का अर्थ "मंत्र" (गुप्त अथवा राजनैतिक परामर्श) से है।[162] अमात्य (मंत्री) को राज - राष्ट्र भृत की संज्ञा से अभिहित किया गया है। समराइच्चकहा में अमात्यार्थ मंत्री, महामंत्री, अमात्य, प्रधानामात्य, सचिव तथा प्रधान सचिव शब्द व्यवहृत हैं।[163] जैनेतर साहित्य में भी अमात्य के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[164] मनु ने सचिव और अमात्य को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है।[165]

महापुराण में अमात्य की योग्यता का उल्लेख करते हुए उल्लिखित है कि उसे निर्भीक, स्वक्रिया तथा परक्रिया का भिज्ञ, महा बलवान, सर्वज्ञ एवं मंत्रकोविद (मंत्रणा में दक्ष) आदि गुणों से युक्त होना चाहिये।[166] प्राचीन आचार्यों के कथन से भी उक्त तथ्यों की पुष्टि होती है।[167] शुक्राचार्य के अनुसार यदि राज्य, प्रजा, बल एवं कोश, सुशासन का सम्वर्धन न हो और मंत्रियों की नीति एवं मंत्रणा से शत्रु का विनाश न हो तो ऐसे मंत्रियों को नहीं रखना चाहिए।[168] कौटिल्य के अनुसार जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार बिना मंत्रियों की सहायता के राजा स्वत: राज्य का संचालन नहीं कर सकता।[169] मनु ने राजकार्य हेतु मंत्रियों की उपस्थिति को अत्यावश्यक माना है।[170]

अतः स्पष्ट हो जाता है कि राज-कार्य के संचालन में अमात्यों (मन्त्रियों) का महत्वपूर्ण सहयोग रहता था।

(ग) सेनापति :- देश की सुरक्षा तथा युद्ध में विजय का उत्तरदायित्व सेनापति पर होने के कारण उसका पद अत्यन्त महत्वयुक्त होता था। महापुराण में वर्णित है कि सेना को सुगठित कर विजय प्राप्त करना उसका मुख्य उद्देश्य होता था। विजयप्राप्ति से उसका यशवर्धन होता था।[171] प्राचीन ग्रन्थों में उसके गुणों का वर्णन करते हुए वर्णित है कि सेनापति को कुलीन, शीलवान, धैर्यवान, अनेक भाषाओं का ज्ञाता, गज और अश्व की सवारी में दक्ष, शस्त्रास्त्र शास्त्र का ज्ञाता, शकुनविद, चिकित्सा का ज्ञाता, वाहन विशेषज्ञ, दानी, मृदुभाषी, बुद्धिमान, दृढ़प्रतिज्ञ, शूरवीर आदि गुणों से विभूषित होना चाहिए।[172]

(घ) श्रेष्ठी :- महापुराण में उल्लिखित है कि श्रेष्ठी की नियुक्ति कोषाध्यक्ष पद के लिए की जाती थी। वह अमात्य, सेनापति, पुरोहित सहित राजा के साथ रहता था।[173] महापुराण में कोषागार के लिए "श्रीगृह" शब्द प्रयुक्त हुआ है।[174]

(ङ) धर्माधिकारी :- महापुराण में धर्माधिकारी को न्यायव्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी माना गया है। यह राजा के बाद न्यायव्यवस्था का प्रमुख था।[175] उपर्युक्त महापुराण में ही इसके लिए "अधिकृत"[176] और हरिवंशपुराण में "दण्डधर"[177] शब्द का वर्णन आया है। देश में निष्पक्ष तथा त्वरित न्याय की व्यवस्था का उत्तरदायित्व धर्माधिकारी पर ही था। जैनेतर ग्रन्थ गरुड़-पुराण में वर्णित है कि धर्माधिकारी को सम्पूर्ण स्मृतियों का ज्ञाता, पण्डित, संयमी, शौर्य तथा वीर्यवान होना चाहिए।[178]

{व} नगर - रक्षक :- महापुराण में नगर- रक्षक को ही पुर- रक्षक कहा गया है। वह सुरक्षा व्यवस्था का प्रबन्ध करने के साथ - साथ दण्डित व्यक्ति को श्मशानभूमि में फांसी देने का भी कार्य करता था।[179] इससे निष्कर्ष निकलता है कि न्यायव्यवस्था कठोर थी।

{छ} दूत एवं गुप्तचर :- ऋग्वेद में दूत शब्द का वर्णन मिलता है।[180] एक राज्य जिस व्यक्ति के माध्यम से दूसरे राज्य को राजनीतिक सन्देश भेजता है, उस व्यक्ति को दूत कहते है।[181] पुष्पदन्त के महापुराण में वर्णित है कि राजा अपने विरोधी राज्य में दूत भेजते थे तथा वहाँ पहुँचकर नीतिविषयक बात करते थे।[182] दूत की योग्यता के विषय में वर्णित है कि उसे सन्धिविग्रह का ज्ञाता, शूरवीर, निर्लोभी, धर्म एवं अर्थ का ज्ञाता, प्राज्ञ, प्रगल्भ, वाक्पटु, तितिक्षु, द्विज, स्थविर तथा मनोहर आकृति का होना चाहिए।[183] महापुराण में वर्णित है कि वह राजा का पत्र पढ़ता था तथा उसे दूसरे राजा के पास पहुँचाता था।[184] जैनेतर साहित्य में भी उपर्युक्त तथ्य प्राप्य है।[185] महापुराण में नि:सृष्टार्थ, मितार्थ एवं शासन- हारिणदूत का वर्णन मिलता है।[186]

महापुराण में गुप्तचरों को राजा का नेत्र कहा गया है। जिस प्रकार नेत्र केवल मुखमण्डल की शोभा है तथा सांसारिक पदार्थों को देखते हैं, उसी प्रकार गुप्तचर रहस्यपूर्ण बातों को जानकर शासन को सुदृढ़ करते है।[187] महापुराण में वर्णित है कि मंत्रीगण गुप्तचरों के माध्यम से सभी प्रकार की सूचनाएँ प्राप्त कर उसी के अनुरूप राजा को मंत्रणा देते है जिससे राज्य की सुदृढ़ता एवं सुरक्षा बनी रहे।[188] महापुराण से ज्ञात होता

है कि राजाओं के पास गुप्तचरों की संख्या अत्यधिक होती थी।[189] गुप्तचरों का कार्य सरल नहीं होता था। उनका जीवन सदैव जोखिम भरा होता था। पाण्डवपुराण में वर्णित है कि कभी - कभी गुण्डों द्वारा उनकी हत्या भी करा दी जाती थी।[190] अल्तेकर का कथन है कि सेना के गुप्तचर अलग होते थे।[191]

आरक्षी :- महापुराण में पुलिस के लिए आरक्षिण[192] तथा तलवर[193] शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है। उस काल में असामाजिक तत्व ही चोरी करते थे। उनके अवरोधनार्थ एवं सज्जनों के रक्षार्थ पुलिस व्यवस्था स्थापित हुई। यदि अपराधी चोरी की सामग्री सहित पकड़ा जाता था तो आरक्षी उसे दण्ड देता था।[194]

गुप्तयुग में पुलिस विभाग के साधारण कर्मचारी को "चाट" और "भाट" की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। अभिज्ञानशाकुंतल तथा मृच्छकटिक में "रक्षिन" शब्द पहरेदार के लिए आया है[195]। गाँवों में रक्ष-कारों की नियुक्ति सुरक्षा एवं शान्ति व्यवस्था करने के लिए होती थी।[196]

न्याय- व्यवस्था :- आलोचित महापुराण के अनुशीलन से उस समय की न्यायव्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। महापुराण में वर्णित है कि धार्मिक राजा अधार्मिक (नास्तिक) लोगों को दण्ड देता था।[197] वह राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। अन्य पुराणों से भी उक्त तथ्यों की पुष्टि होती है।[198] राजा के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीश भी होते थे, जिन्हें "धर्मा-धिकारी" की संज्ञा प्रदान की गई है।[199] न्यायाधीशार्थ "अधिकृत"[200] और "दण्डधर"[201] शब्दों का प्रयोग मिलता है। जैनेतर साहित्यिक एवं पुरातात्विक

साधनों से भी न्यायाधीश विषयक ज्ञान प्राप्त होता है। कौटिल्य ने "पौर-व्यावहारिक" शब्द न्यायाधीशार्थ व्यवहृत किया है। अशोक ने नगर-न्यायाधीश को "अधिकरणिक" की संज्ञा से अभिहित किया है।[202]

पुष्पदन्त के महापुराण में न्याय को राजाओं का सनातन धर्म स्वीकार किया गया है।[203] इसी महापुराण में वर्णित है कि यदि राजा का दाहिना हाथ भी गलत कार्य करे तो उसे भी काटकर शरीर से अलग कर देने के लिए तैयार रहना चाहिए।[204] इससे राजा की न्यायप्रियता प्रमाणित होती है। उक्त महापुराण में अन्यत्र वर्णित है कि राजा को स्नेह, मोह, आशक्ति और भय आदि के कारण नीतिमार्ग का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।[205] पुत्र से अधिक न्याय की महत्ता पर महापुराण में बल दिया गया है।[206] इसी महापुराण में यह भी वर्णित है कि राजा को प्रजा-पालन में पूर्णरूपेण न्यायोचित रीति का अनुकरण करना चाहिए क्योंकि इस प्रकार पालित प्रजा कामधेनु के समान उसके मनोरथों को पूर्ण करती है।[207]

महापुराण में न्याय के दो प्रकारों दुष्टों का निग्रह और शिष्ट पुरुषों का पालन करने का उल्लेख प्राप्य है।[208]

आलोचित महापुराण में शपथ पर भी प्रकाश पड़ता है। गवाही देते समय राजा के समक्ष धर्माधिकारी (न्यायाधीश) द्वारा कथित शपथ को ग्रहण करनी पड़ती थी।[209] आदिपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[210] यह प्रथा आज भी न्यायालयों में प्रचलित है। प्राचीन राजनीतिज्ञों ने राजसत्ता के अन्तिम आधार को दण्ड या बल प्रयोग माना है। मनु के अनुसार यदि राजसत्ता अपराधियों को दण्ड न दे तो "मात्स्य-न्याय" का समाज में पूर्ण प्रभुत्व हो जाएगा। दण्ड के भय से ही लोग न्याय का अनुसरण करते हैं। जब सभी व्यक्ति सोते हैं तो उस समय प्रहरी के रूप में दण्ड उनकी रक्षा करता

है।[211] कौटिल्य ने दण्डनीति के चार मुख्य उद्देश्य बतलाये हैं - {1} {अलब्ध को प्राप्ति, {2} लब्ध का परिरक्षण, {3} रक्षित का विवर्धन, {4} विवर्धित का सुपात्रों में विभाजन।[212] दण्ड के विषय में इसी प्रकार का विचार अन्य जैनेतर आचार्यों ने भी व्यक्त किया है।[213]

पुष्पदन्त के महापुराण में वर्णित है कि मर्यादायुक्त तीन दण्ड-नीति थी- हा, मा, धिक्।[214] उक्त महापुराण में धनापहरण के आरोप में तीन प्रकार की दण्ड व्यवस्था उल्लिखित है - {1} अपराधी के सम्पूर्ण सम्पत्ति का हरण, {2} अपराधी को शक्तिशाली पहलवान से घूंसा लगवाना, {3} अपराधी को काँसे के तीन थाल नया गोबर खिलाना।[215] इस महापुराण में अन्यत्र उल्लिखित है कि अन्याय से अन्य के धन का हरण करना ही चोरी कहलाती है। चोरी करने वाला व्यक्ति दुःख एवं पाप का भागी होता है।[216] उसे थप्पड़, लात, घूंसा आदि से मारकर दण्ड देने का विधान था।[217] इसी महापुराण में उल्लेख आया है कि यदि ब्राह्मण चोरी करते पकड़ा जाय तो उसे देश से निष्कासित कर दिया जाता था।[218] जैनेतर साहित्य से भी इसकी पुष्टि होती है।[219] महापुराण के वर्णनानुसार कन्यापहरण के अपराध में राजा अपने पुत्र को भी श्मशान में मृत्यु- दण्ड देता था।[220] अतः स्पष्ट हो जाता है कि महापुराण में दण्ड विधान कठोर था। अपराधानुसार ही दण्ड देने की व्यवस्था थी।

राज्य के आय के स्रोत :- किसी भी देश या राज्य की सुख एवं समृद्धि मूलाधार वहाँ की आय होती है। महापुराण में वर्णित है कि राजा उपज का षष्ठांश भाग ही कर ग्रहण करता था।[221] वनवासी ऋषि- मुनि की रक्षा

के कारण राजा को उनको तपस्या के फल का षष्ठांश भाग मिलता था।[222] प्राचीन आचार्यों ने भी उपज का छठा भाग कर के रूप में प्रजा से ग्रहण करने का उल्लेख किया है,[223] किन्तु आपत्तिकाल में राजा को अधिक कर लगाने के लिए प्रजा से स्नेहपूर्वक याचना करने का विवरण प्राप्त होता है।[224] राजा भूमि से प्राप्त अन्न में से 1/6 या 1/8 या 1/12 भाग का अधिकारी बताया गया है।[225] जैन आगमों में प्रजा से दसांश भाग कर स्वरूप लेने का विधान था।[226] काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि यही कर राजा का वेतन होता था।[227]

भूमि से प्राप्त आय को बलि और अन्य प्रकार को आय (फल, जलाने की लकड़ी, फूल आदि) को भोग वर्णित किया है। ह्वेनसांग के अनुसार नदी के घाट और सड़क की चुंगी बहुत कम थी।[228] राजस्वरूप में प्राप्त आय का प्रधान स्रोत कृषि था। इसके अतिरिक्त धातुओं के निर्माण उद्योग, पशुपालन, सुरा, वेश्या, नट, नर्तक, गायक, घाट, बाजार आदि पर कर वसूल किया जाता था। कालिदास ने आय के सात प्रधान स्रोतों का उल्लेख किया है - (1) भू-कर, (2) सिंचाई, (3) मादक द्रव्य, (4) राजकीय एकाधिकार एवं अन्य कार्यकलाप, (5) राजकर, (6) विजय, उपहार, भेंट, (7) राजकोश में आगत अनधिकृत सम्पत्ति।[229] हर्ष के काल में परिस्थिति में परिवर्तन हो जाने के परिणामस्वरूप आय के साधनों में भी परिवर्तन हो गया था। उस समय भी आय के प्रमुख सात साधनों का वर्णन मिलता है - (1) उद्रंग (भूमि शुल्क), उपरिकर, (3) धान्य,[230] (4) हिरण्य, (5) शारीरिक श्रम, (5) न्यायालय शुल्क, (7) अर्थदण्ड। पूर्व मध्यकाल में राष्ट्रकूट, चालुक्य, प्रतिहार, परमार, चौहान, गहड़वाल आदि राजवंशों के राजाओं के लेखों और तत्कालीन साहित्यिक साधनों के अनुसार उस समय

भाग, भोग, हिरण्य, उपरिक आदि राज्य के आय के स्रोतों पर प्रकाश पड़ता है।[231]

राज्य का व्यय :-

महापुराण में वर्णित है कि प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए निम्न पर व्यय किया जाता था - प्रशासन एवं राज्य की प्रजा पर व्यय, शिक्षा पर व्यय एवं दीनहीनों पर व्यय।[232] मानसोल्लास के अनुसार राज्य की आय का तीन चौथाई भाग व्यय होना चाहिए और एक चौथाई भाग बचत होना चाहिए। जबकि शुक्राचार्य के अनुसार राजकीय व्यय इस प्रकार होना चाहिए - 50 प्रतिशत सेना एवं युद्ध, 8·5 प्रतिशत दान, 8·5 प्रतिशत जनहित, 8·33 प्रतिशत शासन, 3·33 प्रतिशत निजी कोश और 16·33 प्रतिशत बचत।[234]

अतः स्पष्ट हो जाता है कि राज्य का व्यय अत्यधिक था।

सैन्य- संगठन :-

जैनधर्म मुख्यतः अहिंसाप्रधान धर्म है किन्तु देश की आंतरिक एवं बाह्य सुरक्षा हेतु सैन्य- संगठन को अनिवार्य मानता है। इसीलिए जैनाचार्यों ने सैन्य- वृत्ति की महत्ता पर बल दिया है। आलोचित पुष्पदन्त के महापुराण में इस बात पर जोर दिया गया है कि राजा को एक शक्तिशाली, सुयोग्य एवं कुशल सेना रखनी चाहिए। सैन्य वृत्ति की महत्ता को वर्णित करते हुए महापुराण में उल्लिखित है कि जिस व्यक्ति की युद्ध में मृत्यु होती है, उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[235] आदिपुराण में भी उक्त तथ्यों का वर्णन है।[236] विशाल नरसंहार के अवरोधनार्थ जैनाचार्यों ने धर्मयुद्ध को प्रमुखता दी थी।[237] आलोचित महापुराण से सैन्य- संगठन के विषय में निम्न ज्ञान प्राप्त होता है -

सेना और उसके अंग :- देश की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा व्यवस्था के लिए जिन लोगों की नियुक्ति की जाती है उसे सेना की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। आलोचित महापुराण के प्रणयनकाल के जैनेतर साहित्य शुक्रनीति में वर्णित है कि शस्त्रों और अस्त्रों से सुसज्जित मनुष्यों के समुदाय को सेना कहा जाता है।[238] पुष्पदन्त के महापुराण के अनुसार सेना को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है - हस्ति- सेना,[239] अश्व-सेना, रथ- सेना, पैदल- सेना, देवता तथा विद्याधर। परन्तु मुख्यतः हस्ति-सेना, अश्व- सेना, रथ- सेना एवं पैदल- सेना को ही महत्वपूर्ण माना गया है।[240] आदिपुराण से भी उक्त तथ्यों की पुष्टि होती है।[241] सेना के प्रमुख अंगों का वर्णन निम्नवत् है -

(अ) हस्ति सेना :- गज सेना प्रारम्भ से ही ऐश्वर्यशाली एवं उपयोगी मानी गयी है।[242] शूर, वीर, महाकाय, शुभ लक्षणों से युक्त एवं मदोन्मत्त गज विजय प्राप्ति का कारण माना गया है। कौटिल्य ने "हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञाम्" कहकर हस्तिसेना की प्रशंसा की है। युद्ध के लिए हाथी को सुशिक्षित करना आवश्यक माना जाता था। नीतिवाक्यामृत तथा यशस्तिलकचम्पू में भी शिक्षारहित हाथी को व्यर्थ बतलाया गया है।[244] अतः स्पष्ट होता है कि हाथी को युद्ध के लिए शिक्षित कराया जाता था।

(ब) अश्वसेना :-[245] विदेशियों के प्रभाव के कारण भारत में अश्वसेना के प्रयोग का प्रचलन अत्यधिक था। इनका सेना में महत्वपूर्ण स्थान था।[246] नकुलाश्वशास्त्र से भी उक्त तथ्यों की पुष्टि होती है। अश्वसेना का वर्णन इस प्रकार मिलता है कि जिस प्रकार चन्द्रमा से हीन रात्रि और पति के बिना पतिव्रता सुशोभित नहीं होती है उसी प्रकार अश्वों से हीन सेना

सुशोभित नहीं होती।[246अ] अश्व युद्धस्थल में विषम परिस्थितियों का सामना करने में निपुण होते थे। इनके प्रकारों एवं गुण-दोषों का वर्णन महापुराण में वर्णित है। काम्बोज, वाह्लीक, तैतिल तथा गान्धार देशों के घोड़े उत्तम नस्ल के बताये गये हैं।

(स) रथ-सेना :-[246ब] रथ सेना को युद्ध की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना गया है। महापुराण में रथ के प्रकार, गुण, दोष, महत्व आदि का वर्णन मिलता है।[247] जैनेतर साहित्य से भी रथों के महत्त्व का वर्णन प्राप्त होता है।[243] ऐसा प्रतीत होता है कि सेना के विभिन्न अंगों के विषय में महाकवि पुष्पदन्त का विवरण परम्परागत विवरण पर आधारित है। टी० बी० महालिंगम के अनुसार हर्षवर्धन के समय से ही धीरे-धीरे सेना के अंग के रूप में रथों का प्रयोग कम होने लगा था। हर्ष के मधुबन ताम्रपत्र में रथों का उल्लेख नहीं है जबकि हाथी, अश्व तथा नाव इत्यादि का उल्लेख है। माघ के ग्रन्थ शिशुपालवध में भी इसी प्रकार रथों का उल्लेख केवल एक स्थान पर मिलता है जबकि हाथियों और अश्वों का वर्णन विस्तार से किया गया है।[248 अ]

(द) पैदल सेना :-[249] पैदल चलने वाली सेना प्राचीनकाल से ही महत्वपूर्ण रही है। विजयश्री की उपलब्धि में इसका महत्वपूर्ण स्थान होता था। मानसोल्लास में पैदल सेना के निम्न भेद वर्णित हैं - मौल, भृत्य, मित्र, श्रेणी, आरविक तथा अमित्र।[250]

सेना के अन्य अंगों का भी युद्धस्थल में महत्वपूर्ण भूमिका थी। महापुराण में वर्णित है कि देवता और विद्याधर भी युद्ध में भाग लेते थे।[251] वैभव-

था जो राजा को ही देव और विद्याधर की कोटि माना जाता था। महापुराण के वर्णनानुसार सेना में गान्धर्व भी होते थे।[252] ये सैनिकों का मनोरंजन एवं गाना आदि सुनाया करते थे, जिससे उनको स्फूर्ति एवं उत्साह का वर्धन होता था। महापुराण में उल्लिखित है कि सेना के साथ युद्धस्थल में स्त्रियाँ, वारांगनायें तथा बच्चे भी जाया करते थे।[253] इस विवरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि दसवीं शताब्दी में योद्धाओं के साथ उनके परिवार के अन्य सदस्य भी युद्ध क्षेत्र में जाया करते थे। स्त्रियों और बच्चों के साथ जाने का स्पष्टीकरण आवश्यक है। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि इस काल में सती प्रथा का विशेष प्रचलन था। अतः युद्ध क्षेत्र में योद्धा के वीरगति प्राप्त होते ही वीरांगनाएँ उनके साथ सती हो जाया करती थी। महापुराण में ही वर्णित है कि सेना की रसद आदि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सेना के पीछे पाष्णि- सेना होती थी।[254] इसे "रसद- सेना" के नाम से जाना जाता था।

युद्ध के कारण :-
-------------- पुष्पदन्त के महापुराण के विस्तृत अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय युद्ध के मुख्यतया तीन कारण थे - नारी, साम्राज्यविस्तार तथा आत्मसम्मान।[255] इस कथन की पुष्टि अन्य साक्ष्यों से भी होती है।[256] सामान्यतया उपर्युक्त समस्याओं का समाधान पारस्परिक वार्तालाप के माध्यम से होता था, परन्तु समाधान न होने पर युद्ध अवश्यम्भावी हो जाता था। दसवीं शताब्दी में विभिन्न राजवंशों के मध्य समय- समय पर युद्ध होते रहते थे। इन युद्धों के कारणों के विषय में पुष्पदन्त के महापुराण का विवरण नितान्त समीचीन प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में उन्होंने साम्राज्यविस्तार के साथ- साथ नारी एवं आत्मसम्मान को युद्ध का प्रमुख कारण बताया है।

पराक्रमी राजपूत शासक आत्मसम्मान को विशेष महत्व देते थे और उसकी रक्षा के लिए मर मिटने को तैयार रहते थे। इसी प्रकार नारी के लिए भी कभी- कभी युद्ध हो जाया करते थे।

सैनिक- प्रयाण एवं युद्ध :- राजा पूर्णरूप से सुसज्जित होकर युद्ध अभियान हेतु प्रस्थान करता था। सेना के स्कन्धावार रास्ते में वहाँ लगाये जाते थे जहाँ पर घास योग्य भूमि होती थी। सेना की छावनी बहुत ही सावधानी से निर्मित की जाती थी जिससे घोर वर्षा होने पर भी पानी अन्दर न आ सके।[257] सेना का अभियान सेनानायक करता था।[258] दोनों पक्षों की सेनाएँ युद्ध-स्थल पर मिलती थी। युद्ध नियमानुसार ही होता था। युद्ध प्रारम्भ होने के पहले नगाड़े बजाये जाते थे।[259] विजयी राजा शंखवादन करता था।[260] विजेता राजा का 1008 स्वर्णकलशों से अभिषेक कराया जाता था।[261] अन्य पुराणों में विभिन्न प्रकार के युद्धों का वर्णन प्राप्त होता है। इनके भेद निम्न हैं - धर्मयुद्ध,[262] दृष्टियुद्ध,[263] मायायुद्ध,[264] मल्लयुद्ध,[265] चक्रव्यूहयुद्ध,[266] कपटयुद्ध,[267] बाहुयुद्ध।[268] परन्तु पुष्पदन्त के महापुराण में तीन ही धर्मयुद्धों का उल्लेख मिलता है[268अ] जो निम्न है - मल्लयुद्ध,[268ब] बाहुयुद्ध,[268स] जलयुद्ध[268द] आदि।

युद्ध में प्रत्येक पक्ष एक दूसरे का पूर्ण विनाश करने का प्रयत्न करता था।[269] पुष्पदन्त के महापुराण में युद्ध का सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। योद्धागण युद्ध में अपने शौर्य का प्रदर्शन करते हुए मृत्यु का वरण करने के लिए तैयार रहते थे किन्तु उन्हें पराजय स्वीकार नहीं थी।[270] सैनिक- वृत्ति का समाज में महत्वपूर्ण स्थान था।

युद्ध का नियम :-
------------ युद्ध नियमानुसार होता था। पुष्पदन्त के महापुराण के रचनाकाल में युद्ध दिन में हुआ करते थे परन्तु यदा कदा रात्रि में भी शत्रु का आक्रमण हो जाता था। यह अत्यधिक हेय माना गया था। इसी-लिए रात्रि- युद्ध का निषेध किया गया था।[271] युद्ध में पराजित राजा विजेता राजा को आभूषण, रत्न, कन्या, हाथी, घोड़े आदि उपहार में प्रदान करते थे।[272] उस समय ऐसी व्यवस्था थी कि युद्ध में मृत सैनिक के दाह-संस्कार का व्यय राजकोय कोश से किया जाता था।[273] आदिपुराण से भी उक्त तथ्यों की पुष्टि होती है।[274] सामान्यतया युद्ध के नियमों का सभी लोग पालन करते थे।

सेना के शस्त्रास्त्र :-
--------------- पुष्पदन्त के महापुराण के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि महाराज भरत को एक "दण्डरत्न" तथा एक"चक्ररत्न" प्राप्त हुआ था।[275] इन अस्त्रों के विषय में कहा जा सकता है कि ये दिव्यास्त्र महाराज भरत को भगवान के आशीर्वाद से प्राप्त हुए थे। इन अस्त्रों में "दण्डरत्न" सेना के आगे और "चक्ररत्न" सेना के पीछे रहता था। महापुराण के प्रणयनकाल में राजनीतिक अस्थिरता तथा अव्यवस्था व्याप्त थी। सैनिक- वृत्ति को प्रधा-नता होती जा रही थी। "दण्डरत्न" को आधुनिक टैंक तथा "चक्ररत्न" को आधुनिक बमवर्षक वायुयान की कोटि में रखा जा सकता है।

आलोच्य महापुराण के अध्ययन से निम्नलिखित शस्त्रास्त्रों पर प्रकाश पड़ता है- हलायुध,[276] अमोघतीक्ष्ण बाण,[277] अमोघ बाण,[278] अग्निबाण,[279] आग्नेय-बाण,[280] कृपाण,[281] तलवार (खड्ग),[282] चक्र,[283] धनुषबाण,[284] राक्षसबाण,[285] सप्तरत्न[286] (असि, शंख, धनुष, चक्र, शक्ति, दण्ड तथा गदा), सायक[287] (बाँस के बाण), सिंहबाण,[288] सुदर्शनचक्र,[289] सूर्यबाण,[290] भाला[291] आदि।

सेना से सम्बन्धित अन्य सामान :- आलोचित महापुराण में युद्धों में प्रयुक्त होने वाले शस्त्रास्त्रों के अतिरिक्त अन्य सामानों का भी विवरण मिलता है, जो निम्न है - असिकोश[292], अभेदकवच[293], आयुधशाला[294], कवच[295], टोप[296], तसरु[297] (तलवार की मूठ), निगड़ (बेड़ी)[298], शिरस्त्र[299], शंख[300] आदि।

युद्ध का परिणाम :- उपर्युक्त सैन्य व्यवस्था के परिशीलन से यह विदित होता है कि महापुराण के रचनाकाल में सैनिक संगठन पर विशेष बल दिया जाता था क्योंकि उस समय राजनीतिक अव्यवस्था थी। अहिंसक होने पर भी जैनाचार्यों ने सैनिक वृत्ति को मनुष्य का पुनीत कर्त्तव्य स्वीकार किया था। उनके अनुसार जो व्यक्ति युद्धस्थल में वीरगति को प्राप्त करते हैं उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[301] युद्ध में विजित राजा विजयोत्सव का आयोजन करता था और पराजित राजा संसार की नश्वरता स्वीकार करते हुए जिन-दीक्षा-ग्रहण करता था। परन्तु कभी-कभी विजयी राजा भी जिन-दीक्षा अंगीकार करता था। महापुराण में वर्णित है कि बाहुबली और भरत (सहोदर भ्राता) के बीच जब युद्ध की भयावह स्थिति उत्पन्न हो गयी थी तो दोनों पक्षों के मुख्यमन्त्रियों ने नरसंहार के अवरोधनार्थ दोनों के बीच धर्मयुद्ध (जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध तथा मल्लयुद्ध) का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। अन्तत: विजय बाहुबली को मिली परन्तु भरत हिंसा पर कटिबद्ध हो गया और उसने बाहुबली पर चक्र का प्रयोग किया। उस चक्र से बाहुबली घायल तो नहीं हुआ परन्तु उसका हृदय घायल हो गया। अत: वह हिंसा को रोकने के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया और स्वयं जिन दीक्षा-ग्रहण कर तपस्या के प्रभाव से स्वर्ग को प्राप्त किया।[302] भरत-बाहुबली युद्ध जैन राजनीतिक इतिहास में सत्ता के लिए परस्पर संघर्ष और इसमें हार होने पर

अनीति तथा हिंसा का आश्रय लेने की सर्वप्रथम घटना है।[313] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जैनी नरसंहार और हिंसा से मुक्ति के लिए विकल्प की व्यवस्था का आयोजन करते थे, जिससे हिंसा और युद्ध का निवारण होता था। युद्ध के अन्तिम परिणाम तथा संसार की क्षणभंगुरता का ज्ञान होने से मानव जैन- दीक्षा में दीक्षित होता था।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1- ए0 एस0 अल्तेकर - प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0- 19

2- धन्य कुमार राजेश - जैन पौराणिक साहित्य में राजनीति, पृ0- 3-4

गोकुल चन्द जैन - जैन राजनीति, श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ0-

3- महा0 2/9-10, पद्म0 3/30-88, 3/238 - 241, हरिवंश 8/106-170,
आदि0 3/ 22-163 तुलनीय - नैवराज्यं न राजासीत् न दण्डो न च दाण्डि
धर्मेणैव प्रजा: सर्वा रक्षन्ति च परस्परम् ।।
- महाभारत, शान्तिपर्व, 59/ 14

4- वही, 2/9-10, वही, 3/75-88, वही, 7/123-127, 7/141-158,
वही, 3/ 63-163

5- वही, 2/14, आदि0 16/251-252

6- वट कृष्ण घोष - हिन्दू राजनीति में राष्ट्र की उत्पत्ति, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ0- 269

7- शतपथ ब्राह्मण 11/6/24, रामायण अयोध्याकाण्ड 67/ 31,
महाभारत, शान्तिपर्व 15/30, अर्थशास्त्र 1/4, मनु0 7/14, कामन्दक 2/40,
मत्स्यपुराण 225/9, मानसोल्लास 2/16

8- महा0 5/9-10, आदि0 51/ 5

9- पद्म0 41/ 56-57

10- कौटिल्य - 8/ 2

11- अल्तेकर - प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0- 19

बेनीप्रसाद - दि स्टेट इन ऐंशेंट इण्डिया, पृ- 49।

12- भगवतशरण उपाध्याय - कालिदास का भारत, भाग-1, पृ0- 187

13- आचारांगसूत्र 1/3/160

14- पद्म0 106/65 तुलनीय - मालविकाग्निमित्र, अंक- 5, श्लोक - 13

15- महा0 52/36

16- वही, 5/9, आदि0 42/120

17- अल्तेकर - प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0- 19

18- वही, पृ0- 19

19- महा0 5/12, आदि0 68/72

20- अर्थशास्त्र 6/1, मनु0 9/294, याज्ञवल्क्य 1/353, विष्णुधर्मसूत्र 3/33 महाभारत, शान्ति॰ 69/ 64-65, मत्स्यपुराण 225/11, अग्निपुराण, 233/12, कामन्दक 1/16, मानसोल्लास- अनुक्रमणिका, श्लोक - 20

20-अ- महा0 5/12

21- वही, 28/5/3, 28/8/15

22- कालो वा कारणं राज्ञः राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम् ।।
- महा0 शान्ति 69/6

23- दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नामकालः श्रेष्ठः प्रर्वतते ।।
- महा0, शान्ति 69/7

24- महा0 5/12

25- मनु0 7/54, 7/ 60

25-अ- मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य । - ऋग्वेद 4/42

26- महा0 5/12

27- आदि0 18/ 270- 280

28- बी0 बी0 मिश्र - पॉलटी इन द अग्निपुराण, पृ0- 31

29- अर्थशास्त्र 2/2, महाभारत, शान्तिपर्व 119/16, कामसूत्र 13/33

30- महाभारत, शान्तिपर्व 130/ 35, कामन्दक 31/33, नीतिवाक्यामृत 21/5

31- महा0 5/12

दूषितां कंटकैरेनां फलिनीमपि ते श्रियम् । - आदि0 36/78

32- आदि0 36/96, पद्म0 27/ 24-25

33- वही, 36/ 96, वही, 27/ 24 - 25

34- महा0 5/ 12

35- पद्म0 19/1, 55/ 73

36- अर्थशास्त्र 7/ 9, महाभारत, शान्तिपर्व 138/ 110, मनु0 7/ 208, याज्ञवल्क्य 1/ 352, कामन्दक 4/74-76, 8/ 52, शुक्रनीति 4/1/8-10

37- महा0 5/12

38- शुक्रनीतिसार 4/2-30

39- पद्म0 26/ 40, 43/ 28, तुलनीय पी0 सी0 चक्रवर्ती - आर्ट ऑफ वार इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पृ0- 127

40- महा0 5/12

41- आदि0 54/24

42- महा0 5/10

43- रामायण 5/413, मनु0 7/189, याज्ञवल्क्य 1/ 346, शुक्र 4/1/77,

45- महा0 5/10, 21/11/1-2, 5/12/2

46- वही, 21/ 11/ 1-2, 71/4/6, 71/5/3

47- आदि0 54/ 114

48- पद्म0 44/31

49- महा0 5/12/5, 5/12/2, 78/19/7-8

50- वही, 68/ 66- 67

51- वही, 5/12/5

52- आदि0 68/ 67-68

53- महा0 78/19/ 7-8

54- आदि0 68/68, पद्म0 37/3

55- महा0 5/12/2

56- वही, 52/15/4-9, 75/6/8, 78/4/7-9, 88/5/9-11 आदि

57- वही, 5/7/4, 5/12/11

58- वही, 5/12/5

59- अर्थशास्त्र 7/3, महाभारत, शान्तिपर्व 69/ 67-68, मनु0 7/160, विष्णुधर्मोत्तर 2/145-150, रघुवंश 8/21, कामन्दक 9/16, शुक्र0 4/1065-1066, मानसोल्लास, पृ0- 94-116

60- राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेप: । कौटिल्य 8/2

61- महा0 5/10-12

62- पद्म0 27/ 26, आदि0 41/103, कामन्दक 1/13, शुक्र0 1/ 67

63- महा0 5/7/4, 5/12/11

64- वही, 50/ 3

65- गौतम 11/32, आपस्तम्बधर्मसूत्र 1/11/31/5, मनु0 7/ 4-8, 6/ 96, शुक्र0 1/ 71-72, मत्स्यपुराण 226/ 1

66- महा0 18/16, सरला निध्यां दिव्या: पुरं श्रृण्वतने यम्र: ।
नाट्यं सभाजनं भोज्यं वाहनं पीततानि वै ।।
- आदि0 37/ 143

67- पद्म0 29/ 67

68- महा0 12/ 10, 18/ 16

68-अ- वही, 12/20

69- वही, 12/ 20

70- वही, 12/ 10

70-अ- वही, 12/ 10

70-ब- वही, 12/ 10

70-स- वही, 12/ 10

70-द- वही, 12/ 10

71- वही, 12/ 10

72- वही, 12/ 18, 12/ 20

73- वही, 12/ 3

74- वही, 12/ 3

75- वही, 13/ 10

76- वही, 12/ 20

77- प्रेम कुमारी दीक्षित- महाभारत में राज व्यवस्था, पृ0- 29

77-अ- भगवतशरण उपाध्याय - कालिदास
भाग-1, काशी, 1963, पृ0- 132- 133

78- बैजनाथ शर्मा - हर्ष ऐण्ड हिज टाइम्स, पृ0- 250- 251

79- बी0 एन0 एस0 यादव - सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया,
पृ0- 113- 114

80- महा0 5/7/4, 5/12/11, आदि0 4/ 163, तुलनीय औपपातिक सूत्र- 6, पृ0- 20

81- पद्म0 2/ 53

82- महा0 28/5/3, 28/8/15 कृतात्मरक्षणश्चैव प्रजानामनुपालने ।
राजा यत्नं प्रकुर्वीत राज्ञां मौलो ह्यं गुणः ।।
आदि0 42/ 137

83- महाभारत, शान्तिपर्व 67/ 17, 71/2-11, महाभारत, सभापर्व 17/30-31
गरूड़पुराण 1/96/ 27

84- महा0 28/5/3 , 28/8/15

85- राजा चित्तं समाधाय यत्कुर्याद दुष्टनिग्रहम् ।
शिष्टानुपालनं चैव तत्सामञ्जस्यमुच्यते ।।
- आदि0 42/ 199

86- महा0 5/12/5

87- आदि0 44/ 129- 130

88- महा0 5/7/4, 5/12/11

89- आदि0 56/3

90- अर्थशास्त्र 6/1, मनु0 7/ 32-44, याज्ञवल्क्य 1/ 309- 334,
अग्निपुराण 239/ 2-5, कामन्दक 1/21-22, 4/6- 24,
मानसोल्लास 2/1/1-9, पृ0- 29, शुक्र0 1/73-86

91- महा0 5/7/4, 5/12/11

92- वही, 5/7/4, 5/12/11

93- वही, 5/19-21, 11/24

94- हरिवंश 11/10-20, आदि0 27/152, 28/ 42-44, 31/61-63,

95- इलाहाबाद स्तम्भलेख 23, उदयनारायण राय - गुप्त राजवंश तथा उसका युग, पृ0- 68।

96- गुलाब चन्द्र चौधरी - पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, पृ0- 333, बट कृष्ण घोष - हिन्दू राजनीति में राष्ट्र की उत्पत्ति, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, 1946, पृ0- 272, अर्थशास्त्र 8/1, महा0 12/3

97- महा0 28/ 5/ 3, 28/8/15

98- वही, 5/10

99- वही, 69/2/17-18, 93/4/10-13, आदि0 41/ 82, 50/ 3, हरिवंश 14/ 7

100- विष्णुधर्मसूत्र 3/2-3, महाभारत, शान्तिपर्व 68/ 1-4, मनु0 7/ 144, वशिष्ट 19/ 7- 8, रघुवंश 14/ 67

101- बी0 बी0 मिश्र - पालटी इन द अग्निपुराण, पृ0- 32

102- बट कृष्ण घोष - हिन्दू राजनीति में राष्ट्र की उत्पत्ति, पृ0- 272

103- बौधायनधर्मसूत्र 1/ 10-6, शुक्र0 4/2/ 130

103-अ- णाएं छट्ठभायसंगहणु वि। - महा0 5/9/3

104- यथा राजा तथा प्रजा पप्प 109/ 159
अनाचारे स्थिते तस्मिन् लोकस्तम प्रवर्तते पप्प 53/5, पाण्डव 17/259-260
आदि0 41/ 97

105- प्रजा सुखे सुखं राज्ञः च हिते हितम् ।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम् ।। - अर्थशास्त्र 1/19
महाभारत, शान्तिपर्व 69/ 72-73

106- महा0 28/5/3, 28/ 8/ 15

108- हरिवंश 7/ 176, तुलनीय अशोक के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अशोक चौबीस घण्टे प्रजा की भलाई में व्यस्त रहता था। इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तल के अनुसार राजा दुष्यन्त भी प्रजा की भलाई में तत्पर रहता था। - बी0 एन0 एस0 यादव - सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, पृ0- 113- 114

109- नित्यं राज्ञा तथा भाव्यं गर्भिणी सहधर्मिणी ।
यथा स्वं सुखमुत्सृज्य गर्भस्य सुखमावहेत् ।।
- अग्निपुराण 222/ 8

110- महा0 28/ 5, 28/ 8, आदि0 8/ 79- 86

111- वही, 28/ 5, 28/ 8, वही, 52/ 36 तुलनीय जगदीशचन्द्र जैन - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ0- 43, देवीप्रसाद मिश्र - जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 200

112- तैत्तिरीयसंहिता 5/2/7, रामायण 2/3/40, महाभारत सभापर्व, 68/8 अर्थशास्त्र 1/ 17, मनु0 9/ 109

113- महा0 28/ 5, 28/ 8, मुकुटं मूर्ध्नि तस्याधान् नृपैर्न्नृपवर समम् ।
- आदि0 11/ 43

114- वही, 28/ 5, आदि0 8/ 78- 98

115- पद्म0 31/ 121

116- जगदीशचन्द्र जैन - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ0- 45 धान्य कुमार राजेश - जैन पौराणिक साहित्य में राजनीति, अंक-1, पृ0-6

117- महा0 81/ 18

118- वही, 28/5, 28/8, आदि0 3 / 39- 56, जगदीशचन्द्र जैन - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ0- 43-47

119- कौण्डव 4/ 21

121- अर्थशास्त्र 1/2, महाभारत, शान्तिपर्व 59/ 33, मनु0 7/ 43, याज्ञवल्क्य 1/ 311, कामन्दक 2/2, शुक्र 1/ 151, अग्निपुराण 238/8

122- आवश्यक चूर्णी, पृ0- 205, निशीथ 238/ 8, चूर्णी 2, पृ0- 462- 463 जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति 3/ 68, ज्ञाताधर्मकथा 1, पृ0- 28, उत्तराध्ययनटीका 8, पृ0- 240

123- महा0 7/ 21, आदि0 11/ 39- 45, 16/ 196- 233, 38/ 238-239

124- तैत्तिरीयसंहिता 2/ 7/ 15- 17 , नीतिमयूख, पृ0- 4- 5, बौधायनगृह्यसूत्र 1/ 23, महाभारत, शान्तिपर्व 40/ 9- 13, विष्णुधर्मोत्तर 2/18/ 2- 4, रघुवंश 27/ 10, हर्षचरित, पृ0- 103

125- महा0 8/4, आदि0 62/ 210- 211

126- महाभारत, शान्तिपर्व 92/ 19, मनु0 7/ 27- 28, विष्णुपुराण 1/13/29, शुक्र0 4/7/332- 333

127- महा0 5/ 12

128- काशीप्रसाद जायसवाल - हिन्दू राजतन्त्र, दूसरा भाग, पृ0- 113- 114

129- महा0 17/10/10-11, 21/11/1-2, 88/1/8

130- मनु0 7/54, महाभारत शान्तिपर्व 12/ 85, अर्थशास्त्र 1/ 15, शुक्रनीति 2/70, के0 के0 हँडीकी - यशस्तिलक ऐण्ड इण्डियन कल्चर,पृ0-101

131- महा0 17/10/10-11, 21/11/1-2, पद्म0 8/16, आदि0 4/ 190, तुलनीय अर्थशास्त्र 1/ 15, मनु0 7/ 147- 150

132- वही, 17/ 10/10-11, 21/ 11/ 1-2, वही, 4/ 487,आदि032/57

133- पद्म0 66/ 13

134- महा0 7/ [illegible] आदि0 27/ 152, हरिवंश 11/ 13-20

137- वही, 66/ 12

138- वही, 102/ 126

139- इलाहाबाद स्तम्भलेख 23, उदयनारायण राय - गुप्त राजवंश तथा उसका युग, पृ0- 68।

139-अ- बी0 एन0 एस0 यादव - सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, पृ0- 136·

140- अल्तेकर - राष्ट्रकूटाज ऐण्ड देयर टाइम्स, पृ0- 265
कुमारपाल प्रबन्ध, पृ0- 42, इण्डियन ऐक्टीवटी 6,9,12

141- आर0 एस0 शर्मा - भारतीय सामन्तवाद, पृ0- 2

142- वही, पृ0- 24-25

142-अ- आर0 बी0 पाण्डेय - हिस्टारिकल ऐण्ड लिटरेरी इंस्क्रिप्शान्स, नं0- 56, पंक्ति - 50

142-ब- कॉ0 इं0 इं0, जि0-4, नं0- 16, पंक्ति- 31

142-स- ए0 इं0, 28, नं0- 24, फलक ए0, पंक्तियाँ 11-12, फलक बी, पंक्ति - 16

142-द- अल्तेकर - द राष्ट्रकूटाज ऐण्ड देयर टाइम्स, पृ0- 7

142-इ- कामसूत्र - अ0-5, 5/5

142-फ- वही, अ0-5, 5/5

143- अर्थशास्त्र, 1/6

144- राजबली पाण्डेय - हिस्टोरिकल ऐण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्सन्स, नं0- 19, 1-3

145- ललनजी गोपाल - सामन्त : इट्स वैरिंग सिगनीफिकेन्स इन

145-अ- सि0 इं0, पृ0- 394, श्लोक - 5
145-ब- का0 इं0 इं0, जि0- 4, भूमिका, पृ0- 141
145-स- ए0 इं0, जि0- 1, 67 और आगे जि0-4, पृ0- 208
145-द- "करदीकृत महासामन्त" , वासुदेवशरण अग्रवाल - हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 100

145-इ- वही, पृ0- 216

145-फ- वही, पृ0- 194

145-ग- अग्रवाल - कादम्बरी, पृ0- 127- 128

145-ह- वही ।

145-ई- वासुदेवशरण अग्रवाल - हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 178

145-ज- ए0 इं0, नं0- 41, पंक्तियाँ 7- 15

145-क- वासुदेवशरण अग्रवाल - हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 143

146- वही, परिशिष्ट- 1

146-अ- वही, पृ0- 155

146-ब- प्रतिसामन्त चक्षुषामिव ननाशनिद्रा कुमुदवनानाम्"
- वासुदेवशरण अग्रवाल - हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन,पृ0-

146-स- वही, पृ0-60, तुलनीय अग्रवाल- कृत हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्
पृ0- 43

146-द- वही, पृ0- 209- 210

146-इ- सामन्तसेनामुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दु:, श्लोक- 23

147- महा0 5/7/ 4, 5/12/11, आदि0 42/ 160

148- वही, 18/16, आदि0 37/175,पद्म0 41/115, स्थानांगसूत्र §7/55

150- ऋग्वेद 2/3/3
151- आपस्तम्बधर्मसूत्र 20/2/12, 3/1/13, बौधायनधर्मसूत्र 15/4
152- मानसोल्लास 2/2/60
153- वही, पृ0- 150
154- याज्ञवल्क्य 1/313
155- मनु0 7/78
156- अथर्ववेद 1/9/15
157- शुक्र0 2/77-78
158- अल्तेकर - प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0- 152
159- महा0 5/12
160- वही, 5/10, आदि0 5/7, पद्म0 8/16, हरिवंश 14/66
161- पद्म0 113/4
162- आर0 जी0 बसाक - मिनिस्टर्स इन ऐंशेण्ट इण्डिया, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग-1, पृ0- 523-524
163- झिनकू यादव - समराइच्चकहा, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 60
164- आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/10/25/10, अर्थशास्त्र 1/15, महाभारत 12/85. 7-8
165- मनु0 7/54, 7/60
166- महा0 5/12, आदि0 4/190, पद्म0 8/16-17, 15/26-31, 63/3, 103/6
167- व्यवहारभाष्य-1, पृ0- 131, ज्ञाताधर्मकथा-1, पृ0- 3, अर्थशास्त्र 1/8-' महाभारत, शान्तिपर्व 118/7-14, याज्ञवल्क्य 1/312, विष्णु 3/17, नीतिसार 4/24-30, शुक्र0 2/52-64, मानसोल्लास 2/2/52-59
168- राज्यं प्रजा बलं कोश : सुनृपत्वं न वर्द्धितम् ।
यन्मंत्रोऽरिनाशस्तैर्मन्त्रिभि: किं प्रयोजनम् ।। - शुक्र॰ 2/83

169- अर्थशास्त्र 1/ 3

170- मनु0 8/ 53

171- महा0 5/12, आदि0 37/ 174

172- अर्थशास्त्र 2/33, महाभारत, शान्तिपर्व 85/ 11-32, मत्स्यपुराण 2/5/8-10, कामन्दक 28/27-44, मानसोल्लास 2/2/10-12

173- महा0 5/12, आदि0 5/7

174- वही, 5/12, वही, 37/ 85

175- वही, 12/3, वही, 5/7

176- वही, 12/3, वही, 59/ 154

177- हरिवंश 16/ 255

178- गरूड़पुराण 1/112/ 9

179- महा0 5/12, आदि0 67/ 100

180- ऋग्वेद 1/12/1, 8/ 44/ 3

181- महा0 16/ 12-14, आदि0 35/62, 68/ 408, पद्म0 16/55-56

182- वही 16/14

183- वही, 52/6/6-14, 74/4/7-12 धान्य कुमार राजेश - जैन पौराणिक साहित्य में राजनीति, पृ0- 9

184- महा0 16/15/1, 16/21, 74/9/1, 74/15/15, आदि 68/251, 68/ 396.

185- रामायण 5/52/14-15, महाभारत, शान्तिपर्व 86/ 25-26, अर्थशास्त्र 1/ 16

186- महा0 52/6/6-, 14, 74/ 4/ 7- 12, आदि0 43/ 202 तुलनीय याज्ञवल्क्य 1/ 328, अर्थशास्त्र 1/ 16, नीतिसार 13/3

187- महा0 5/7/4 , 5/12/11, आदि0 4/ 170

188- वही, 17/10/ 10-11, 11/11/1-2, आदि0 62/12। तुलनीय-
"चारचक्षुर्महीयते" ।

189- वही, 5/7/4 - 5/12/11 कामन्दक 12/ 18

190- पाण्डव 12/ 118

191- अल्तेकर - प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0- 146

192- महा0 46/ 29। तुलनीय - महाभारत सभापर्व 5/94-95,
समराइच्चकहा- 2, पृ0- 155- 156

193- वही, 46/ 304

194- वही, 46/ 293

195- उदय नारायण राय - गुप्त राजवंश तथा उसका युग, पृ0- 373

196- दशरथ शर्मा - अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ0- 207

197- महा0 5/9, अधर्मस्थेषु दण्डस्य प्रणेता धार्मिको नृपः, आदि 40/ 200

198- पद्म0 109/ 150

199- महा0 5/12, आदि0 5/7

200- वही, 59/ 154

201- हरिवंश 16/255

202- उदय नारायण राय - गुप्त राजवंश तथा उसका युग, पृ0- 378
देवी प्रसाद मिश्र - जैनपुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 214

203- महा0 5/7/4, 5/12/11, आदि0 38/ 259

204- वही, 5/7/4, 5/12/11, वही, 67/111

205- वही, 5/7/4, 5/12/11, वही, 17/110, तुलनीय
व्यवहारभाष्य-1, भाग-3, पृ0- 132

206- वही, 5/7/4, 5/12/11, वही, 45/67

207- वही, 28/5/5, 28/8/15, वही, 38/269

208- वही, 5/9, वही, न्यायश्च द्वितीयो दुष्टनिग्रह: शिष्ट पालनम् ।

- आदि0 38/259

209- वही, 5/10

210- आदि0 59/ 154, तुलनीय- मनु0- 8/113

211- दण्ड: शास्ति प्रजा सर्वा दण्ड स्वाभिरक्षति ।

दण्ड: सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधा: ।।

- मनु0 8/14

212- काणे - हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग - 3, पृ0- 6

213- महाभारत, शान्तिपर्व 102/ 57, याज्ञवल्क्य 1/ 317, नीतिसार 1/ 18

214- महा0 5/10, आदि0 16/ 250, हरिवंश 7/ 176

215- वही, 5/7/4, 5/12-11, वही, 59/ 175- 176

216- वही, 5/7/4, 5/12/11, वही, 59/ 178- 187

217- वही, 5/12/11, वही, 8/ 226

218- वही, 5/7/ 4, वही, 70/ 155

219- ऋग्वेद 4/38/5, महाभाष्य 5/1/64-66, याज्ञवल्क्य 2/ 266- 268, मनु0 8/323, 9/ 276- 280

220- महा0 5/7/4, 5/12/11, आदि0 67/ 99

221- वही, 5/9/3

222- वही, 5/7/4, 5/12/11, आदि0 27/28

223- विष्णुधर्मसूत्र 3/22-23, गौतम 10/24, मनु0 7/130

224- अर्थशास्त्र 5/12, मनु0 10/118, शुक्र 4/2/9-10

225- विष्णुधर्मसूत्र 3/22, गौतम 10/24, मनु0 7/130, मानसोल्लास 2/3/163

226- जगदीशचन्द्र जैन - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ0- 42

227- काशीप्रसाद जायसवाल - हिन्दू राजतन्त्र, दूसरा भाग, पृ0- 165

228- बी0 बी0 मिश्र - पालटी इन द अग्निपुराण, पृ0- 149- 151

229- भगवतशरण उपाध्याय - कालिदास का भारत, भाग-1, पृ0- 251

230- कैलाशचन्द्र जैन - प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, पृ0- 263·

231- कैलाशचन्द्र जैन - वही, पृ0- 263- 264

232- महा0 5/7/ 4, 5/12/11

233- मानसोल्लास 2/3/163

234- कैलाशचन्द्र जैन - प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ,पृ0-26

235- महा0 5/12

236- आदि0 44/ 232

237- महा0 5/7/4, 5/12/11

238- शुक्र 4/ 864

239- महा0 12/2-3, 12/19, आदि0 6/113, 58/110

240- वही, 12/3

241- आदि0 62/138, हरिवंश 2/71, 11/2, पद्म0 4/68

242- महा0 12/3, आदि0 44/ 204

243- कौटिल्य अर्थशास्त्र 2/2/14

244- नीतिवाक्यामृत, बलसमुद्देश्य, पृ0- 208, यशस्तिलकचम्पू, खण्ड-39 पृ0- 491·

245- महा0 12/2-3, आदि0 31/3, 44/79

246- चन्द्रहीना यथा रात्रिः पतिहीना पतिव्रता ।
हयहीना तथा सेना विस्तीर्णाऽपि न शोभते ।।
- नकुलाश्वशास्त्र, 1/14

246-अ- महा0 12/3, आदि0 26/77, 37/160

248- वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड 106/16-20, महाभारत,शान्तिपर्व, 59/41- 42

248-अ- तुलनीय टी0 बी0 महालिंगम - एडमिनिस्ट्रेशन ऐण्ड सोशल लाइफ अण्डर विजयनगर,भाग-1, द्वितीय संस्करण, मद्रास 1969,पृ0- 151 आर0 पी0 त्रिपाठी - स्टडीज इन पोलिटिकल ऐण्ड सोशियो एकनामिक हिस्ट्री ऑफ अर्ली इण्डिया, पृ0- 125

249- महा0 12/2, आदि0 27/110, 30/3

250- मानसोल्लास 2/6/556

251- महा0 12/ 19, आदि0 58/ 110

252- वही, 12/ 2-3, वही, 52/4

253- वही, 18/ 16

254- वही, 18/ 15

255- वही, 5/7/4, 5/12/11

256- आदि0 26/ 30, 35/ 107-110

257- महा0 5/12, आदि0 32/ 60

258- वही, 18/ 16, वही, 68/ 583

259- वही, 12/ 2, वही, 68/ 594

260- वही, 12/ 2, वही, 68/ 631

261- वही, 7/21, वही, 68/ 644

262- हरिवंश 11/80

263- वही, 11/81, आदि0 36/45, पद्म0 4/ 73

264- आदि0 68/ 617

265- वही, 70/ 474, 36/ 58, हरिवंश 11/ 84

266- हरिवंश 50/ 133

268- पद्मा0 4/73

268-अ- महा0 17/ 9

268-ब- वही, 17/ 10

268-स- वही, 17/ 15

268-द- वही, 17/ 13

269- वही, 52/15/ 4-9, 75/6/8, 78/4/7-9, 88/5/9-11

270- वही, 52/15/ 4-9, 75/6/8, 78/4/7-9, 88/5/9-11

271- वही, 52/15/ 4-9, 75/6/8, आदि0 44/ 272, हरिवंश 62/18
पद्म0 9/56, 10/ 53

272- वही, 7/ 21

273- वही, 52, 15/4-9

274- आदि0 44/ 351

275- महा0 12/ 13, आदि0 29/ 7

276- वही, 12/ 18

277- वही, 17/ 5-6

278- वही, 17/ 7

279- वही, 17/ 6

280- वही, 17/ 7

281- वही, 17/ 6

282- वही, 17/ 6

283- वही, 17/ 7

284- वही, 17/ 7

285- वही, 17/ 6

286- वही, 18/ 15

287- वही, 17/ 5

289- वही, 37/ 169, हरिवंश 53/ 49

290- वही, 44/ 242

291- वही, 17/ 7

292- वही, 5/ 250

293- वही,37/ 150

294- वही, 63/ 458

295- वही, 12/ 3

296- वही, 36/ 14

297- वही, 37/ 165

298- वही, 42/ 76

299- वही, 36/ 14

300- वही, 72/ 110

301- वही, 12/4, आदि0 44/ 138

302- वही, 5/7/4, 5/ 12/ 11

303- गोकुल चन्द्र जैन - जैन राजनीति, श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ0- 27·

पंचम अध्याय

धार्मिक स्थिति

धार्मिक स्थिति

भारतीयों का जीवन प्राचीनकाल से धर्मगत उत्कण्ठा से अनुप्राणित रहा है जिसमें नैतिक मूल्यों, आचारगत अभिव्यक्तियों तथा जगन्नियन्ता के प्रति समर्पण की भावना का सन्निवेश था। सम्पूर्ण देश और समाज धर्म की विशाल छाया में क्रियाशील रहा है। धर्म का व्यावहारिक महत्व कर्त्तव्य का समुचित पालन था, जिसके माध्यम से व्यक्ति लौकिक उत्कर्ष के साथ- साथ आध्यात्मिक उत्कर्ष करता था। जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक भारतीय का जीवन ज्ञानगर्भित, सदाचरित और धर्मप्रवण था। उसके समस्त कर्त्तव्य और कर्म ज्ञान समन्वित और श्रद्धा- सिक्त होकर धर्म से ही उत्प्रेरित और गतिमान होते थे, जो उसके परिवार और समाज को गठित करने में अभूतपूर्व योगदान देते थे। ऐसी स्थिति में ज्ञानसंवलित, नैतिक आचरण से प्रभावित तथा सत्कर्म से उत्प्रेरित मान्यताएं और स्थापनाएं मनुष्य की धार्मिकता को उद्भासित करती रहीं तथा उसके आचार-विचार, कर्त्तव्यदायित्व, परम्परा और सम्बन्ध को भी उत्कर्षित करती रहीं। निश्चय ही व्यक्ति की यह अभिव्यक्ति उसकी धार्मिकता थी अथवा उसका धर्म था। इस धर्म से जिन मूल्यों, मान्यताओं, आयामों और स्थापनाओं का ज्ञान होता था उन्हीं के अनुरूप व्यक्ति कर्म की ओर प्रवृत्त होता था। अतः जैनाचार्यों ने महापुराण के माध्यम से अपने धर्म को जनमानस तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। इसीलिए पुष्पदन्त के महापुराण में जैनधर्म- दर्शन के विषय में अत्यधिक सामग्री प्राप्त होती है। अध्ययन की दृष्टि से इसे हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं - दार्शनिक पक्ष और धार्मिक पक्ष।

सैद्धान्तिक या दार्शनिक पक्ष :- महापुराण मूलत: दार्शनिक ग्रन्थ नहीं है फिर भी इनके अनुशीलन से दार्शनिक पक्ष पर जो प्रकाश पड़ता है उसकी विवेचना निम्न रूप में की जा सकती है -

लोक :- लोक सृष्टि की मान्यता जैनधर्म में पूर्णत: अमान्य रही है किन्तु लोक विज्ञान और लोक विद्या का प्रतिपादन जैनग्रन्थों में सम्यक रूप से हुआ है। विश्व, जगत, संसार, भुवन के लिए जैन परम्परा में लोक शब्द व्यवहृत हुआ है। महापुराण में लोक को तीन भागों में विभाजित किया गया है- अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक । इनका आकार क्रमश: वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के समान है।[2]

{क} अधोलोक :- महापुराण में अधोलोक को दानव और नरकों का निवास स्थल बताया गया है।[3] हरिवंशपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[4]

{ख} मध्यलोक :- इसका आकार वलय की भाँति होता है। इसमें बहुत से द्वीप और समुद्र विद्यमान है । इनके मध्य में लवण समुद्र से आवृत्त जम्बू द्वीप है। जम्बूद्वीप के मध्य में मेरू पर्वत है। महापुराण के वर्णनानुसार संसार क्षण- क्षण में परिवर्तित होते है। इसलिए यह संसार विनश्वर कहा गया है।[5]

{ग} ऊर्ध्वलोक :- इस लोक में देवता निवास करते हैं । महापुराण में वर्णित है कि उत्तम कर्म करने से स्वर्ग {ऊर्ध्वलोक} की प्राप्ति होती है। इसलिए जैनी लोग परलोक के बिगड़ने के भय से धार्मिक क्रियाएँ सम्पादित करते हैं।[6] हरिवंशपुराण से भी उक्त तथ्यों की पुष्टि होती है।[7]

षड्द्रव्य :-

पुष्पदन्त के महापुराण में षड्द्रव्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनकी विवेचना निम्नवत् है -

द्रव्य का स्वरूप :-

द्रव्य वह लक्षण सत् है। गुण और पर्याय के समूहों को भी द्रव्य कहा गया है, यथा जीव एक द्रव्य है, उसमें सुख, ज्ञान आदि गुण हैं और नर नारकी आदि पर्याय हैं। इसमें द्रव्य के गुण एवं पर्याय से पृथक् सत्ता नहीं है। सामान्यत: गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य। जैन दृष्टि में सत् में उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता प्राप्य हैं। अतएव प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है और उसमें स्थिरता भी रहती है।

द्रव्य के प्रकार :-

जैन धर्म में कुल छ: द्रव्य प्राप्त होते हैं जिनका विस्तारश: वर्णन महापुराणकार ने किया है।[3] ये छ: द्रव्य निम्नलिखित हैं - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल।[5] अन्य पुराणों में भी इसके विभागों की पुष्टि होती है। इनमें जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय और बहुप्रदेशी हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी है, जिसमें इसकी परिगणना पंचास्तिकायों के अन्तर्गत् नहीं की जाती है। चेतन और अचेतन की दृष्टि से द्रव्य के मुख्य दो प्रकार हैं - जीव और अजीव।

आलोचित महापुराण में जीव द्रव्य की विशद विवेचना मिलती है जो निम्नवत है - जीव वर्तमानकाल में जीवित है, भूतकाल में जीवित था और भविष्यकाल में जीवित रहेगा, इसलिए इसे जीव नाम से जाना जाता है। यह जीव नर- नारकादि पर्यायों में निरन्तर गमन करता है, इसलिए यह "आत्मा" का बोधक है। महापुराण में वर्णित है कि जिसमें चेतना पायी जाए वह जीव का बोधक है। वह अनादि, ज्ञाता, द्रष्टा, कर्त्ता, भोक्ता और

शरोर के प्रमाण के समान है।[10] आत्मा है, क्योंकि उसमें ज्ञान का सद्भाव है, आत्मा अन्य जन्म ग्रहण करता है क्योंकि उसका स्मरण बना रहता है और आत्मा सर्वज्ञ है क्योंकि ज्ञान में वृद्धि देखो जाती है। पद्मपुराण में अनन्त दर्शन,अनन्तज्ञान, अनन्तवोर्य और अनन्त- सुख ये चारों आत्मा के स्वरूप माने गये हैं।[11]

जोव : प्रकार एवं स्वरूप :-
---------------------- जोव आदि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप हो तत्व का बोधक है। यह तत्व ही सम्यक्ज्ञान का कारण है और यही जीवों को मुक्ति का अंग है। साधारणत: तत्व एक प्रकार का होता है किन्तु जोव और अजोव के भेद से दो प्रकार का होता है। जोवों के संसारो जोव और मुक्त जोव के विभाजनानुसार तत्व के भो संसारी जोव मुक्त जोव एवं अजोव भेद निर्मित हुए। इस प्रकार तत्व के अनेक भेद होते हैं ।

संसारो जोव और उनके भेद :-
---------------------- संसारो जोव के सामान्यतया दो भेद हैं - {1} स्थावर, {2} त्रस। वनस्पतिकायिक, पृथ्वोकायिक आदि स्थावर एवं शेष त्रस नाम से अभिहित किये जाते हैं। जो स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण आदि पाँच इन्द्रियों से युक्त हैं इन्हें पन्चेन्द्रिय अभिधा से अभिहित करते हैं । संसारो जोव सुख प्राप्ति की इच्छा से इन्द्रियजनित ज्ञान, दर्शन, वोर्य, सुख और सुन्दरता को शरोर रूपी घर में हो अनुभव करने का प्रयत्न करता है।[12] महापुराण में ज्ञानावरणादि नामक संसारो जीव के आठ मूल कर्म का वर्णन हुआ है और इसके एक सौ अड़-तालीस उपभेद हैं, इन्हों से आबद्ध होने के कारण जोव का नामकरण संसारो जीव हुआ है।[13]

मुक्त या सिद्ध जीव :- महापुराण में सिद्ध जीव के विषय में उल्लिखित है कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र्य रूपी उपाय द्वारा जिन्होंने स्वयं को इस प्रकार सुयोग्य निर्मित कर मुक्ति को प्राप्त कर लिया है तथा जो स्वरूप को प्राप्त कर सिद्धक्षेत्र लोक के अग्रभाग पर तनुवातवलय में स्थित हो गये हैं, वे सिद्ध नामक संज्ञा से जाने जाते हैं। पाँच प्रकार का ज्ञानावरण, नौ प्रकार का दर्शनावरण, साता-असाता वेदनीय, अट्ठाइस मोहनीय, चार आयु, बयालीस नाम, दो गोत्र, पाँच अन्तराय कर्म, आठ गुण, असंख्यात प्रदेशी, अमूर्तिक, न्यून शरीरी, आकाश के समान, दुःखों से रहित, अपरिवर्तनीय इत्यादि सुख स्वरूप होते हैं।[14] पद्मपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[15] महापुराण में वर्णित है कि मुक्त जीव का जो सुख है, वह अतुल अन्तराय से रहित एवं आत्यन्तिक होता है।[16]

संसारी जीव की गतियाँ :- महापुराण के अनुसार प्राणी अपने कर्म के अनुकूल नरकादि चतुर्गतियों (नरकगति, तिर्यंकगति, मनुष्यगति, और देवगति) में क्लेश भोगते हुए भ्रमण करते रहते हैं।[17] हरिवंशपुराण में भी प्राणियों का चौरासी लाख कुयोनियों तथा अनेक कुल कोटियों में निरन्तर भ्रमण करने का उल्लेख मिलता है।[18] इसीलिए अपने कर्मों के अनुसार धनी, निर्धन कोढ़ी आदि होते हैं।

अजीव द्रव्य :- जो चेतना शून्य होता है उसे अजीव द्रव्य कहते हैं। इसके पाँच प्रकार हैं - धर्म , अधर्म , आकाश , काल और पुद्गल[19] ।

सप्त तत्त्व एवं नौ पदार्थ :- महापुराण के परिशीलन से सप्त तत्त्व एवं नौ पदार्थों का वर्णन मिलता है। तत्त्व का अर्थ किसी वस्तु का भाव या धर्म से है। जिस वस्तु का जो भाव है वह उसका तत्त्व है।[20] प्रयोजनभूत वस्तु के स्वभाव से तत्त्व का बोध होता है। महापुराण में मुख्य सात तत्त्व निम्न हैं[21] - §1§ जीव, §2§ अजीव, §3§ आस्रव, §4§ बन्ध, §5§ संवर, §6§ निर्जरा, §7§ मोक्ष । इनमें पाप और पुण्य को मिलाने पर उन्हें नौ पदार्थ सम्बोधित करते हैं।[22] इनका वर्णन निम्नवत् है -

जीव :- महापुराण में समभाव § संसारी और मुक्त § की दृष्टि से इसके दो भेद बतलाये गये हैं[23] अर्थात जन्म और मृत्यु से युक्त जीव संसारी तथा तन से रहित मुक्त जीव कहे जाते हैं ।

अजीव :- इसके पाँच भेद बताये गये हैं - धर्म, अधर्म, आकाश , काल और पुद्गल[24] ।

आस्रव- पंचेन्द्रिय सुखों में मन को प्रेरित करने वाले निन्द्य कर्म आस्रव कहे जाते हैं । इसके द्वारा कर्म पुद्गलों का आस्रवण होता है। शरीरधारी जीव की मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाएँ कर्म पुद्गलों को आकृष्ट करती है। मन, वचन, काय क्रिया को योग कहते हैं। योग ही आस्रव का कारण

होने से आस्रव कहा जाता है। हरिवंशपुराण में भी काय, वचन और मन की क्रिया को योग अभिधा से जाना जाता है। वह योग ही आस्रव कहलाता है।[26] आस्रव के दो भेद हैं जीवाधिकरण आस्रव और अजीवाधिकरण आस्रव ।

बन्ध :-

जीव और कर्म के परस्पर सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं । महापुराण में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बन्धन का कारण माना गया है[27] । पद्मपुराण में वर्णित है कि क्रोध, मान, माया तथा लोभ ये चार कषाय महाशत्रु हैं । जीव संसार में इनके द्वारा भ्रमण करता है।[28]

संवर :-

पाप कर्मों के निरोध को संवर कहा गया है। ऐसा नहीं करने वाले के सिर पर असह्य दुःख वज्र की तरह आ पड़ते हैं[29] । इसके दो भेद हैं- भाव संवर एवं द्रव्य संवर ।

निर्जरा :-

आस्रव के द्वारों का निरोध होकर जब नवीन कर्मों का प्रवेश रुक जाता है, ऐसी स्थिति में चिर- काल से जीव के साथ बँधे हुए कर्म भी निर्जरा के द्वारा नष्ट हो जाते हैं[30] ।

मोक्ष :-

निर्जरापूर्वक जो भव- बन्धन को तोड़ देते हैं, वे ही नीरोग, अजर- अमर और श्रेष्ठ सुख अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[31] हरिवंशपुराण में धर्म को मोक्ष का कारण स्वीकार किया गया है।[32] जैनपुराणों के कथना-नुसार मोक्ष का कारण तपश्चरण है।[33]

महापुराण में वर्णित है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य की एकता ही मोक्ष- प्राप्ति का साधन है। इनमें से किसी एक की भी अनुपलब्धि से मोक्ष- प्राप्ति सम्भव नहीं है।[34]

पुण्य और पाप :-
------------- जैन कर्मवाद के अनुसार संसार का प्रत्येक कार्य कर्मजन्य नहीं होता बल्कि उनमें से कुछ घटनाएँ पौद्गलिक है, कुछ कालजन्य, कुछ स्वाभाविक, कुछ आकस्मिक एवं कुछ वैयक्तिक अथवा सामाजिक प्रयत्नजन्य होती है। जैन कर्मवाद विशुद्ध व्यक्तिवादी है। कर्म दो प्रकार के होते हैं शुभ और अशुभ। शुभ कर्म से पुण्य बन्ध प्राप्त होता है तो अशुभ कर्म से पाप। इस प्रकार पुण्य एवं पाप शुभ एवं अशुभ कर्मों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।[35]

महापुराण में उल्लिखित है कि सम्यक्त्व ज्ञान, चारित्र्य तथा-तप द्वारा पुण्य का उदय होता है एवं मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय से पाप का बन्ध उत्पन्न होता है।[36] इस प्रकार सप्त तत्वों में पुण्य और पाप को संयुक्त करने पर नौ पदार्थ हो जाते हैं।

महापुराण में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। इसमें कहा गया है कि इस संसार में शरीर, इन्द्रियाँ, सुख- दुःखादि जितने भी पदार्थ दृष्टिगत होते हैं उन सबकी उत्पत्ति चेतन आत्म से सम्बन्धित कर्म रूपी विधाता के द्वारा ही होती है। अतएव संसारी जीव के आंगोपांग में जो विचित्रता दृष्टिगोचर होती है वह सब निर्माण नामक कर्मरूपी विधाता की कुशलता से ही उत्पन्न होती है। ये संसारी जीव ही स्वकर्मोदय से प्रेरित होकर शरीर आदि संसार की सृष्टि करते हैं।

जैन ग्रन्थों में कर्म पर विशेष जोर दिया गया है। इसी मूलाधार पर जैन दर्शन का विशाल प्रासाद निर्मित है। कर्मों को मूल और उत्तर भेद में विभाजित किया जा सकता है। कर्मों के मूल आठ भेद है और उत्तर

भेद एक सौ आठ। महापुराण के आठ प्रकार के कर्मों का वर्णन निम्नवत है[37] - (1) ज्ञानावरण, (2) दर्शनावरण, (3) वेदनीय, (4) मोहनीय, (5) आयु, (6) नाम, (7) गोत्र, (8) अन्तराय। इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय कर्म घातिकर्म हैं और शेष अघातीकर्म। घातिकर्म के विनष्ट होने पर केवलज्ञान[38] और अघातिकर्म के विनाश पर मोक्ष[39] की प्राप्ति होती है। हरिवंशपुराण में भी कर्म की उत्तरप्रकृतियों की विस्तारपूर्वक विवेचना उपलब्ध है।[40] मोहनलाल मेहन्ता ने भी कर्म के ग्यारह अवस्थाओं का वर्णन किया है - बन्धन, सत्ता, उदय, उदीरणा, उद्वर्तना, संक्रमण, उपशमन, निधत्ति, निकाय तथा अबाध।[41]

कर्मानुसार फल प्राप्ति के कारण मनुष्य जिस प्रकार के कर्म करता है उसी प्रकार का फल भी उसे प्राप्त होता है। अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार कोई कार्य होता है तो कोई म्लेच्छ। कोई सर्वप्रिय तथा यशस्वी होता है और कोई अप्रिय एवं अपयशी।[42] अन्य पुराणों में भी इसकी पुष्टि होती है।[43]

कर्म और पुनर्जन्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कर्म की सत्ता स्वीकार करने पर पुनर्जन्म की सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है। जिन कर्मों की फल प्राप्ति इस जन्म में नहीं होती, उन कर्मों के भोग के लिए पुनर्जन्म मानना अनिवार्य है। पुनर्जन्म एवं पूर्वभव अस्वीकार करने पर कृत कर्म का निर्हेतुक विनाश- कृतप्राण एवं अकृतकर्म का भोग मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में कर्मव्यवस्था दूषित हो जाएगी। इन्हीं दोषों से विमुक्ति के लिए कर्मवादियों को पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है।[44]

सतसत् अव्यक्तव्य । जैन पुराणों में भी इसी सप्तभंगी का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि स्याद्वाद का कथन सात प्रकार का होता है। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

लौकिक या धार्मिक पक्ष :-

जैन धर्म मूलतः निवृत्तिमूलक है। जैनधर्म में मुनियों एवं श्रमणों का विशेष स्थान है। महापुराण में वर्णित है कि साधुओं का समागम हृदय के संताप को विनष्ट कर परमानन्द को संवृद्धि कर मन की वृत्ति को संतुष्ट करता है, पाप का विनाश करता है, योग्यता को पुष्टि करता है, कल्याण को वृद्धि करता है, मोक्ष- मार्ग को बताता है।[51] जो सब प्रकार के परिग्रह से रहित है, महातपश्चरण में लीन है और तत्वों के ध्यान में सदा लीन रहते हैं, ऐसे श्रमण (मुनि) उत्तम पात्र कहलाते हैं।[52] राजा के यहाँ मुनियों के उपस्थित होने पर वह स्वयं यथाशीघ्र सिंहासन त्यागकर उनकी स्तुति करता था तथा उनके धर्मोपदेशों का केवल श्रवण ही नहीं, बल्कि उनका आजीवन पालन भी करता था।[53] अतः स्पष्ट है कि महापुराणकाल में मुनियों का महत्वपूर्ण स्थान था।[54]

मुनियों के कर्त्तव्य :- मुनिगण सूर्यास्त होने पर वहीं एक स्थान पर रूक जाते थे, एकान्त एवं पवित्र स्थान पर गाँव में एक दिन और नगर में पाँच दिन तक रहते थे, श्मशान या शून्य गृह, वन्य जन्तुओं से युक्त जंगल, पर्वत को गुफा में निवास करते थे, पर्यंकासन या वीरासन से रात्रि व्यतीत करते थे, परिग्रहरहित, निर्ममत्व, निर्वस्त्र, विशुद्ध मोक्ष का हो मार्ग खोजते थे,, त्रसकाय, वनस्पतिकाय, पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय

एवं अग्निकाय इन छः कायों की रक्षा करते थे। दीनतारहित, शान्त, परम उपेक्षा सहित, गुप्तियों के धारक एवं काम भोगों में कभी आश्चर्य नहीं करते थे, दूसरों द्वारा दिये गये विशुद्ध अन्न का भोजन कर- स्पी पात्र में ही करते थे,, मुनियों की उत्कृष्ट भावना की प्रतीक्षा कर उसका अच्छी तरह से निर्वाह करते थे।[55] पद्मपुराण में वर्णित है कि राग-द्वेष से रहित हृदय वाले मुनित्व को प्राप्त होते है।[56] यही विचार उत्तरा-ध्ययन सूत्र में भी प्राप्त होता है।[57] मुनियों के अन्य प्रकार के धर्मों में धैर्य धारण करना, क्षमा रखना, ध्यान धारण करने में निरन्तर उत्सुक रहना परीषहों के आने पर मार्ग से च्युत न होने का वर्णन महापुराण में प्राप्य है।[58] मुनियों के लिए जैनधर्म में अट्ठाइस मूल गुण तथा चौरासी लाख उत्तर गुणों की व्यवस्था दी गई है। अट्ठाइस मूल गुण निम्न है - सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य। ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेप समिति, व्युत्सर्ग समिति, सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग, स्पर्शेन्द्रिय विजय, रस-नेन्द्रिय विजय, घ्राणेन्द्रिय विजय, चक्षुरिन्द्रिय विजय, श्रोतेन्द्रिय विजय, आजानत्व, अदन्त धावन, भूमिशयन, नग्नत्व, केशलुंचन, एक भोजन तथा खड़े होकर भोजन करना आदि। इसके अतिरिक्त चौरासी लाख उत्तर गुण हैं जिनमें मुनि आत्मज्ञान तथा तप द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करता है और कर्मक्षय करके अर्हन्त्य पद प्राप्त करता है।[59] महा-पुराण में मुनियों के सामान्य धर्म का वर्णन निम्न रूप में किया जा सकता है -

<u>पांच महाव्रत -</u>[60] (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह)

अहिंसा महाव्रत -[61]
------------ (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, ईर्यासमिति, कामनियन्त्रण एवं विष्वाणसमिति।

सत्य महाव्रत -[62]
---------- (क्रोध, लोभ, भय एवं हास्य का परित्याग करना तथा शास्त्रानुसार वचन कहना)।

अचौर्य महाव्रत -[63]
----------- (परिमित आहार लेना, तपश्चरण के योग्य आहार लेना, श्रावक के प्रार्थना पर आहार लेना) ब्रह्मचर्य महाव्रत[63अ] (स्त्रियों की कथा का त्याग, उनके सुन्दर अंगोपांगों के देखने का त्याग, उनके साथ रहने का त्याग)।

परिग्रहणत्याग महाव्रत -[64]
----------------- (पाँचों इन्द्रियों के बाह्य एवं आभ्यन्तर सचित- अचित पदार्थों में आसक्ति का परित्याग करना)।

पाँच समितियों के अन्तर्गत् "ईर्या भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण एवं उत्सर्ग को सम्मिलित करते हैं।"

गुप्ति, मूलगुण, उत्तरगुण, परीषह, तप अनुप्रेक्षा, चारित्र्य तथा कषाय को मुनियों को पालन करना चाहिए।

महापुराण के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि उस समय मुनि संघ[65] हुआ करते थे जिसमें मुनिगण निवास करते थे। मुनिसंघ में प्रवेश के पूर्व मुनि- दीक्षा लेनी पड़ती थी। उस समय मुनिगण मुनि- धर्म का पालन करते थे। मुनि ही समाज के आदर्श थे, यद्यपि यत्र तत्र भ्रष्ट मुनियों का भी वर्णन मिलता है।[65ब]

योग :-

प्राचीन काल से योग का विशेष स्थान रहा है। पतंजलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है।[65स] मन, वचन तथा काय की क्रिया को महापुराण में योग की संज्ञा दी गयी है।[66] महापुराण में छः प्रकार के योगों का निरूपण करते हुए योग, समाधान, प्राणायाम, धारणा, आध्यान, ध्येय, स्मृति, ध्यान का फल, ध्यान का बीज तथा प्रत्याहार की समीक्षा की गयी है।[67]

भारतीय समाज एवं सम्प्रदायों में मोक्ष प्राप्ति के लिए ध्यान का महत्वपूर्ण योग रहा है। एकाग्रता का नाम ध्यान है। ध्यान के प्रमुखतः तीन अंग है - ध्याता, ध्यान तथा ध्येय। आर्त्त, रौद्र, धर्म्य तथा शुक्ल ध्यान के चार प्रकार वर्णित है।[68] आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान अप्रशस्त है और धर्म्य ध्यान तथा शुक्ल ध्यान प्रशस्त हैं।[69] महापुराण में वर्णित है कि इन चारों ध्यानों में से प्रथम दो (आर्त्त तथा रौद्र) ध्यान त्याज्य हैं क्योंकि वे दोषयुक्त ध्यान है तथा संसार को बढ़ाने वाले हैं और दो (धर्म्य तथा शुक्ल) ध्यान मुनियों को धारण करने योग्य हैं।[70]

महापुराण की मान्यतानुसार मुनियों एवं गृहस्थों के लिए सामान्यतया एक ही धर्म विहित है। धर्म के नियम, विधि आदि का कठोरतापूर्वक पालन करने को महाव्रत की संज्ञा दी गयी है, जिसे मुनिगण पालन करते थे। इन्हीं नियमों एवं विधियों का शिथिलता से पालन करने को अणुव्रत कहा गया है, जिसे गृहस्थ या श्रावक ग्रहण करते हैं। गृहस्थों के अन्य धर्म दान पूजा, देवी, देवताओं की मान्यता तथा व्रतोपवास आदि थे। ज्योतिषी देवता, भवनवासी देवता, व्यन्तरदेवता, कल्पवासी देवता तथा अन्य देवी - देवता महापुराण में उल्लिखित हैं।[71]

पूजा :-

भारतीय समाज में प्राचीनकाल से ही मनुष्य के दैनिक जीवन में पूजा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। मनुष्य का यह विश्वास है कि इस क्रिया को सम्पन्न करने से वह विघ्न- बाधाओं से मुक्त तथा सुखी- सम्पन्न एवं स्वर्ग का अधिकारी होगा। इस प्रकार महापुराण में जिन- पूजा को महत्त्व प्रदान किया गया है। उक्त महापुराण में पूजा के चार प्रकार वर्णित है[72] - सदार्चन (नित्यमह), चतुर्मुख (सर्वतोभद्र) कल्पद्रुम तथा अष्टान्हिक । उपर्युक्त चार प्रकारों के अतिरिक्त महापुराण में पूजा के पाँचवें प्रकार का भी उल्लेख है जिसे ऐन्द्रध्वज महायज्ञ की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसे केवल इन्द्र ही कर सकते हैं।[73] महापुराण के अतिरिक्त पद्मपुराण से भी जिन- पूजा का वर्णन प्राप्त होता है।[74]

जैनधर्म अहिंसा प्रधान होने के कारण उन सभी यज्ञों का विरोध करता है जिसमें हिंसा होती है। आलोचित महापुराण में यज्ञ शब्द पूजा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यज्ञ में दान देना तथा देव एवं ऋषियों की पूजा होती थी।[75] महापुराण में वर्णित है कि यज्ञ दो प्रकार के होते थे।[76]

आर्य यज्ञ और अनार्य यज्ञ :-

प्रथम आर्ययज्ञ में जीवादि छः द्रव्य, तीन अग्नि, ऋषि, यति, मुनि एवं अनगार रूपी द्विज वन में निवास करते हैं तथा आत्मयज्ञ कर मोक्ष प्राप्त करते है[76ब]। दूसरे आर्य यज्ञ में तीर्थंकर, गणधर एवं अन्य केवलियों का पूजन, दान, ऋषि, प्रणीत वेदमंत्र का उच्चारण, अक्षत- गन्ध- माला आदि से आहुति होती है।[76ब] पद्मपुराण में भी आर्य यज्ञ को ही धर्म यज्ञ की संज्ञा प्रदान की गयी है।[77]

जिस यज्ञ में हिंसा होती है, उसे अनार्य यज्ञ कहा जाता है। इस यज्ञ में बहुत से प्राणियों की बलि दी जाती थी।[78] जैनियों ने हिंसा के कारण ही

यज्ञों का विरोध किया है। महापुराण में पशुबलि का विरोध किया गया है।[79] जैनेतर वैदिक ग्रन्थों में भी हिंसापरक यज्ञों का विरोध मिलता है। ऋग्वेद[80] और मुण्डकोपनिषद[81] में भी ऐसे यज्ञों का विरोध हुआ है। इससे स्पष्ट है कि यज्ञों में हिंसा का प्रचलन बाद में हुआ। जैनी अपने ग्रन्थों को ही वेद कहते हैं। महापुराण में वर्णित है कि जिसके बारह अंग है, जो निर्दोष है और जिसमें श्रेष्ठ आचरणों का विधान है, वही वेद है। उन्हीं पुराणों और धर्मशास्त्रों को वास्तविक पुराण और धर्मशास्त्र माना गया है, जिसमें हिंसा का अभाव है।[82]

आलोचित महापुराण में हिंसापरक वेद को पौरुषेय वर्णित है और जगह-जगह पर इसकी निन्दा की गयी है। वेद के आधार पर पूजा-पाठ कर आजीविका चलाने वाले ब्राह्मणों को अक्षर म्लेच्छ कहकर उनकी निन्दा की गयी है।[83] अथर्ववेद को पाप प्रवर्तक शास्त्र कहा गया है। अहिंसाप्रधान जैनधर्म ने पारम्परिक वैदिक धर्म का विरोध किया है।

दान :-

भारतीय समाज में दान प्रदान करने कीप्रथा प्राचीन काल से ही प्रचलित है । इसके अन्तर्गत् मनुष्य की परोपकारी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। स्वयं अपना और दूसरों के उपकार के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है।[84] दान के सम्बन्ध में सर्वार्थसिद्धि में वर्णित है कि दूसरे के उपकार के लिए अपनी वस्तु के अर्पण को दान कहा जाता है।[85]

दान के प्रकार के सम्बन्ध में जैन आगमों में दो प्रकार के विचार प्राप्त होते है। एक के अनुसार दान चार प्रकार का होता है तथा दूसरे

के अनुसार दान तीन प्रकार का होता है। प्रथम के अनुसार आहार, औषधि, शास्त्रादिक तथा स्थान ये चार प्रकार के दान हैं[86] तथा दूसरे के अनुसार आहार, अभय एवं ज्ञान ये तीन दान हैं।[87] इसी श्रेणी में सात्विक, राजस तथा तामस दान को स्वीकार किया गया है।[87अ]

हमारे आलोचित महापुराण में दान को चार भागों में बाँटा गया है जो निम्न है[88] - दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति तथा अन्वय-दत्ति।

महापुराण में वर्णित है कि दान सुयोग्य पात्र को ही देना चाहिए जिससे दान देने और लेने वाले दोनों को उचित लाभ मिल सके।[89] पद्म-पुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[90] महापुराण में वर्णित है कि कुपात्र को दान देने से दाता, दान एवं पात्र इन तीनों का विनाश हो जाता है।[91] पद्मपुराण से भी सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र्य से शुद्ध, समान दृष्टि वाला, परिग्रह से रहित तथा महातपश्चरण और तत्व में लीन पात्र को ही दान देने का उल्लेख है।[92]

महापुराण में कन्या, हाथी, सुवर्ण, अश्व, गो, दासी, तिल, रथ, भूमि, गृह इन दस वस्तुओं को दान देने का विवरण मिलता है।[93] महापुराण ने उक्त दान की वस्तुओं को उपेक्षा का विषय बताया है क्योंकि ये दान की वस्तुएँ स्वार्थपरक हैं।[94] उक्त महापुराण में वर्णित है कि शास्त्र ही प्रमुख साधन है जिससे सिद्धि मिलती है। शास्त्र ज्ञान से प्राप्त होता है, अतएव शास्त्र दान की मुख्य वस्तु है।[95] इसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है। महा-पुराण में वर्णित है कि शास्त्रदान, अभयदान तथा आहार दान देने वाले व्यक्ति ही परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं।[96] आदिपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[97]

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1- मैक्स वेबर - रिलिजन्स आव इण्डिया, पृ0- 52- 64

2- महा0 7/11, आदि0 4/41, हरिवंश 4/ 5-6, पद्म0 14/ 149, 105/ 109.

3- वही, 7/ 11

4- हरिवंश 17/ 152

5- महा0 7/ 11

6- वही, 7/ 11

7- हरिवंश 6/ 43-54, 6/ 119- 121

8- छ वि दव्वइं पच्चक्खइं दिदठइ । - महा0 18/10/9

9- आदि0 24/ 85-91, पद्म0 2/155-157, 105/ 142

10- महा0 10/9/3

11- आदि0 24/ 92, पद्म0 105/ 191

12- महा0 10/9/3, आदि0 42/ 54

13- वही, 7/13/4-11, 11/30/9-11, 32/5, आदि0 67/ 5-6

14- वही, 7/13/4-11, 11/30/9-11, 32/5, वही, 24/ 97, 71/196-197 हरिवंश 3/67-77, पद्म0 105/ 203

15- पद्म0 48/ 200- 207

16- महा0 18/10/9, आदि0 67/ 10

17- वही, 7/13/4-11, 11/30/9; 11/32/5

18- हरिवंश 18/ 56

19- महा0 11/34/ 1-7

20- वही, 18/10/ 3

21- वही, 18/10/ 3

22- वही, 18/10/ 3

23- वही, 10/9/3

24- वही, 11/34/1-7

25- वही, 7/13/ 3

26- हरिवंश 58/ 57

27- महा0 7/ 13/ 12

28- पद्म0 14/ 110 तुलनीय - दशवैकालिक 8/36-38

29- महा0 7/14/1-2

30- वही, 7/14/ 12-13

31- वही, 18/ 10/ 9

32- हरिवंश 63/ 90

33- पद्म0 86/ 6, हरिवंश 64/ 51

34- महा0 7/ 18

35- मोहनलाल मेहता - जैन धर्म दर्शन, पृ0- 477- 480

36- महा0 11/10

37- वही, 7/13/ 4-11, 11/30/9, 11/32/5

38- वही, 7/19, 9/9

39- वही, 18/ 10/ 9

40- हरिवंश 58/ 221-292

41- मोहनलाल मेहता - जैन धर्म दर्शन, पृ0- 486-491
नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य - जैन फिलास्फी : हिस्टोरिकल, आउट लाइन, पृ0- 154, देवीप्रसाद मिश्र - जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन,पृ0-358

42- जो ज करइ सोज्जि तं पावइ । - महा0 7/7/ 10

43- हरिवंश 49/ 17, पद्म0 14/41- 45

44- मोहनलाल मेहता - जैन धर्म दर्शन, पृ0- 491

45- धवला 15/25/1

46- सप्तभङ्गीतरङ्गनी 30/ 2

47- महा0 11/29/8- 15

48- हरिवंश 58/ 195

49- महा0 11/ 29/ 8-15

50- वही, 11/ 29/ 8-15

51- वही, 9/5/6-11, 38/21/5, 46/9/3, आदि0 9/160-163

52- वही, 10/9/3, पद्म0 14/ 58

53- वही, 1/18/10-13, 11/35/7-15, 57/ 27/ 4, आदि0 62/348-350,
पद्म0 106/86-87, हरिवंश 50/ 59

54- हरिवंश 18/ 51, पद्म0 5/295

55- महा0 7/ 16

56- पद्म0 78/23

57- उत्तराध्ययनसूत्र 8/1-2

58- महा0 28/7/1-4, 7/17/4-10, 18/11/13

59- वही, 7/16-18, 18/10/3-8, 18/11/13

60- वही, 7/17/ 4-10

61- वही, 7/18, 18/10/3

62- वही, 7/12, 18/10/3

63- वही, 7/ 15

63-अ- 3/2/7, 11/29/2-3, 18/10/3, 18/11/13

64- वही, 18/10/3

65- वही, 18/ 12

65-अ- वही, 7/18

65-ब- योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । पातन्जल योगसूत्र 1/2

66- वही, 7/14, आदि0 21/225, हरिवंश 58/57

67- वही, 18/5

68- वही, 18/ 6

69- वही, 18/ 7

70- वही, 18/ 8

71- वही, 7/ 9

72- वही, 7/ 26

73- वही, 7/ 26

74- पद्म0 10/89-90, 32/153-172, 45/101, 69/ 5, 95/32-33

75- महा0 8/1, 62/ 15/ 2

76- वही, 5/9

76-अ- वही, 7/ 1

76-ब- वही, 5/9-10

77- पद्म0 11/241- 244

78- महा0 7/8, पद्म0 67/388

79- वही, 20/16/1

80- ऋग्वेद 10/ 46/ 6

81- मुण्डकोपनिषद् 1/2/7

82- महा0 90/5/10-12

83- पद्म0 11/167-251, हरिवंश 23/34-35, आदि0 42/52- 184, 67/ 187-473

84- महा0 5/10, 8/15, तत्त्वार्थसार 7/38

85- पद्म0 3/65-72, सर्वार्थसिद्धि 6/12/330/ 14

86- वही, 32/ 154-156, 14/ 76 तुलनीय - रत्नकरण्ड श्रावकाचार-117

87- सर्वार्थसिद्धि 6/ 24/ 338/1

87-अ- सागारधर्मामृत 5/ 47

88- महा0 6/15/2, आदि0 38/35

89- वही, 7/14, 62/15/3, वही, 63/ 275

90- पद्म0 14/ 96

91- महा0 62/ 15/5

92- पद्म0 14/ 53- 58

93- महा0 62/15/12, आदि0 56/ 96

94- वही, 62/16/ 2

95- वही, 62/16/ 5

96- वही, 62/16/ 7

97- आदि0 56/ 76

98- महा0 7/ 18

99- वही, 7/16, आदि0 7/ 42-43, 7/77 हरिवंश 34/ 90

99-अ- वही, 8/8, वही, 6/ 141, वही, 34/ 122

100- वही, 7/ 26, वही, 6/ 146-151, वही, 34/97

101- वही, 7/ 25, वही, 7/77, वही, 34/ 99

102- वही, 7/16, वही, 7/18, वही, 34/ 121

103- वही, 7/20, वही, 7/32, वही, 34/52-55

104- वही, 7/23, वही, 71/408, वही, 34/69-70

105- वही, 7/ 22, वही, 7/44, 71/367, वही, 34/ 71

106- श्रीचन्द्र जैन - जैनकथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0- 57

107- बृजेन्द्रनाथ शर्मा- सोशल ऐण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ0- 108-109

सन्दर्भ - ग्रन्थ

जैन मूल ग्रन्थ

अपराजित पृच्छा : भुवनदेव, सम्पा० पोपटभाई अम्बाशंकर, मनकद, बड़ौदा, 1950

अंगविज्जा : सम्पा० मुनि पूर्णविजय प्राकृत जैन टेक्स्ट सोसाइटी वाराणसी, 1957

अनेकार्थ संग्रह : चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1929

अभिधान चिन्तामणि : भाग-1,2, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर वी० नि० सं० 2441, 2446

आचारांग : श्री अमोलक ऋषि द्वारा अनुवादित ।

आचारांग चूर्णि : ऋषभदेव केसरीमल, रतलाम, 1941

आचारांग और कल्पसूत्र : सम्पा० एच० याकोबी, आक्सफोर्ड, 1882

आचारांग - निर्युक्ति : आगमोदय समिति, बम्बई 1916

उत्तराध्ययन : एक परिशीलन, सुदर्शन लाल जैन, अमृतसर 1970

उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन, आचार्य तुलसी, कलकत्ता

उपासकाध्ययन : सम्पा० कैलाशचन्द्र शास्त्री, काशी 1964

कल्पसूत्र : भद्रबाहु, सम्पा० एच० याकोबी, लाइपजिग, 1[illegible]

कथाकोश : प्रभाचन्द्र सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, दिल्ली, 19[illegible]

कषाय पाहुड सुत्त : गुणधराचार्य, सम्पा० हीरालाल जैन, कलकत्ता, 1955

गद्य चिन्तामणि : वादीभ सिंह सूरि, सम्पा० पन्नालाल जैन, दिल्ली, 1968

गोम्मटसार (जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड) : नेमिचन्द्र, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, भाग 1-2 दिल्ली, 1978-1979

गाथासप्तशती : हाल, सम्पा० मथुरानाथ शास्त्री, बम्बई, 1933

जम्बूसामिचरिउ : वीर कवि, सम्पा० विमल प्रकाश जैन, दिल्ली, 1968

जसहरचरिउ : पुष्पदन्त, सम्पा० हीरालाल जैन, दिल्ली, 1972

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति : भाग 1, 2 सेठ देवचन्द लालभाई जैन, बम्बई, 1920

जीवन्धरचम्पू : हरिश्चन्द्र, सम्पा० पन्नालाल जैन, दिल्ली, 1953

जैनधर्मामृत : हीरालाल, काशी, 1960

णायकुमारचरिउ : पुष्पदन्त, सम्पा० हीरालाल जैन, दिल्ली, 1972

तत्त्वार्थसार : कलकत्ता, 1929

तिलोयपण्णत्ति : यतिवृषभ, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये तथा हीरालाल जैन, शोलापुर, 1943

तत्त्वानुशासनादि संग्रह : माणिक्यचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र : (भाग 1, 2, 3) : हेमचन्द्र, अनु० एच० एम० जानसन गायकवाड़, ओरियण्टल संस्कृत सीरीज बड़ौदा, 1931-1954, जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर, बम्बई, वि० सं० 1965

दशरूपक : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1928

दसवेकालिक : सम्पा० नथमल, कलकत्ता, सं० 2020

दर्शनसार : देवसेन सूरि, सम्पा० नाथूराम प्रेमी, बम्बई, वि०सं० 1974

दिगम्बर जैन व्रतोद्यापन-संग्रह : सम्पा० फूलचन्द्र सूरतचन्द्र जोशी, ईडर 1954

दीघनिकाय : बाम्बे युनिवर्सिटी, पब्लिकेशन, 1942

धर्मामृत (सागार एवं अनागार) : आशाधर, सम्पा० कैलाशचन्द्र, भाग 1 व 2, दिल्ली 1977-78

धर्मरत्नाकर : जयसेन, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, शोलापुर 1974

नाममाला : जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई, वी० नि० सं० 2463

नायाधम्मकहाओ : सम्पा० एन० वी० वैद्य, पूना, 1940

नियमसार : कुन्दकुन्दाचार्य, अनु० मगनलाल जैन, बम्बई, 1960

नीतिवाक्यामृत : (हि० टी०) सुन्दरलाल शास्त्री, महावीर जैन ग्रन्थमाला वाराणसी, 1976

पउमचरिउ : स्वयम्भूदेव, सम्पा० एस० सी० भायाणी, अनु० देवेन्द्र कुमार जैन, भाग 1 से 5, दिल्ली 1958-1970

पद्मपुराण : रविषेण (भाग 1, 2, 3) सम्पा० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (प्र०सं०) 1958-1959

पाण्डवपुराण : शुभचन्द्र, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये तथा हीरालाल जैन, जीवराज गौतमचन्द्र जोशी, शोलापुर, 1954

पार्श्वनाथचरित्र : वादिराज सूरि, सम्पा० मनोहरलाल, बम्बई, 1916

परिशिष्ट पर्वन : हेमचन्द्र, सम्पा० एच० याकोबी, कलकत्ता, 1883

पुराणसारसंग्रह : दामनन्दी, सम्पा० गुलाबचन्द्र जैन, भाग 1, 2 काशी, 1954 - 55

पुरुदेवचम्पू प्रबन्ध : अर्हद्दास, सम्पा० पन्नालाल जैन, दिल्ली, 1972

प्रश्नव्याकरणसूत्र : मुक्तिविमल जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, वि०सं० 1995

मदनपराजय : नागदेव, सम्पा० राजकुमार जैन, दिल्ली, 1948

महापुराण : जिनसेन (भाग 1, 2) सम्पा० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी (द्वि०सं०) 1963-65

महापुराण (उत्तरपुराण) : गुणभद्र (द्वितीय भाग) सम्पा० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (प्र० सं०) 1954

महापुराण (अपभ्रंश) : पुष्पदन्त (भाग 1-4) सम्पा० देवेन्द्रकुमार जैन, माणिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला, दिल्ली, 1979- 1983

यशस्तिलक (संस्कृतटीका) : पूर्व खण्ड, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1901

यशस्तिलक (हिन्दी टीका) : सुन्दरलाल शास्त्री, पूर्व खण्ड, महावीर जैन, ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1960

यशस्तिलक (हिंदी टीका) : सुन्दरलाल शास्त्री, उत्तरखण्ड, महावीर जैन, ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1971

रत्नकरण्ड श्रावकाचार : समन्तभद्र, दिल्ली, 1951

वीर जिणिंद चरिउ : पुष्पदन्त, सम्पा० हीरालाल जैन, दिल्ली, 1974

वीरवर्धमानचरितम् : सकलकीर्ति, सम्पा० हीरालाल जैन, दिल्ली, 1974

श्रावकधर्मप्रदीप : कुन्थुसागर, सम्पा० जगन्मोहनलाल, बनारस वीर नि० सं० 2481

समरांगण सूत्रधार : भोज, सम्पा० टी० गणपति शास्त्री, खण्ड-1, बड़ौदा, 1924

समयसार : कुन्दकुन्द, सम्पा० कैलशचन्द्र, शोलापुर, 1960

सिद्धान्त-सार-संग्रह : जीवराज जैन ग्रन्थमाला, 1957

हरिवंशपुराण : जिनसेन सम्पा० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1962

जैनेतर मूल ग्रन्थ

अग्निपुराण : अनु० एस० एन० दत्त, कलकत्ता, 1901

अथर्ववेद : सम्पा० आर० रॉथ और डब्ल्यू डी० ह्विटनी, बर्लिन, 1924

अपरार्क : याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना 1903-1904

अर्थशास्त्र : कौटिल्य, सम्पा० आर० शामाशास्त्री मैसूर 1929

: आर० पी० कांगले (अनु०) खण्ड 1-3, बम्बई, 1965

अर्थशास्त्र : (हिन्दी व्याख्या वाचस्पति गैरोला) चौखम्बा विद्याभवन, 1984

अभिज्ञानशाकुन्तलम् : कालिदास, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1926

अमरकोश : अमर सिंह, सम्पा० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1914 - 1917

अष्टाध्यायी : पाणिनि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1929

आपस्तम्ब धर्मसूत्र : वाराणसी, 1932

आश्वलायन गृह्यसूत्र : संपा० म० म० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1923

उपनिषद् : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, गीताप्रेस, गोरखपुर

ऋग्वेद : वैदिक संशोधन मण्डल, पूना 1933 - 51

ऋतु संहार : कालिदास, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1922

ऐतरेय ब्राह्मण : आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, 1931

कथासरित्सागर : सोमदेव, 2 खण्ड, सम्पा० केदारनाथ शर्मा, पटना, 1960

कर्पूरमंजरी : राजशेखर, कलकत्ता, 1943

कलाविलास काव्यमाला : क्षेमेन्द्र, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

कविकण्ठाभरण : क्षेमेन्द्र, काव्यमाला सीरीज, संख्या - 4, बंबई, 1937

कादम्बरी : बाणभट्ट, सम्पा० एम० आर० काले, बंबई, 1900

कामन्दकीय नीतिसार : टी० गणपति शास्त्री द्वारा संपादित, त्रिवेन्द्रम 1912

काव्यप्रकाश : मम्मट, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, 1927

काव्यमीमांसा : राजशेखर, संपा० सी० डी० दलाल तथा आर० ए० शास्त्री, बड़ौदा, 1934

कामसूत्र : वात्स्यायन अनु० श्री देवदत्त शास्त्री, जयमंगला सहित, चौखम्भा, वाराणसी, 1982

किरातार्जुनीयम् : भारवि कृत मल्लिनाथ कृत टीका

कीर्तिकौमुदी : सोमेश्वर कृत, बम्बई, 1883

कुमारसम्भव : कालिदास, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1927

कूर्मपुराण : एन0 मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1890

गरुड़पुराण : खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1906

गोपथ ब्राह्मण : कलकत्ता, 1872

गौतम धर्मसूत्र : मैसूर, 1917

गृहस्थ रत्नाकर : चण्डेश्वर विब्लियोथिका इण्डिका, 1925

गीतगोविन्द : जयदेव, बम्बई, 1925

तैत्तिरीय आरण्यक : आनन्दाश्रम, संस्कृत सीरीज, 1926

तैत्तिरीय संहिता : सम्पा0 श्रीपाद शर्मा, औंधनगर, 1945

दशकुमारचरित : दण्डी, संपा. एम0 आर0 काले, बंबई, 1911

देवी भागवत पुराण : वंगवासी प्रेस, कलकत्ता

नारदस्मृति : अनु0 जे0 जॉली, आक्सफोर्ड, 1889

नारदीय पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई

पद्मपुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई

पराशर गृह्यसूत्र : कलकत्ता, 1890 - 1891

पराशरस्मृति : गुजराती प्रेस, संस्करण 1917

बृहत्संहिता : वराहमिहिर, संपा0 सुधाकर द्विवेदी, बनारस, 1895- 1897

बृहस्पतिस्मृति : गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, 1941

बौधायन धर्मसूत्र : वाराणसी, 1934

ब्रह्मवैवर्तपुराण : संपा0 जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1888

ब्रह्मपुराण : बंबई, 1907

ब्रह्मसूत्र : शांकरभाष्यम्, निर्णय सागर प्रेस, बंबई

ब्रह्माण्डपुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, 1950

भागवत पुराण : श्रीमद्भागवत, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1953

मत्स्यपुराण : गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, 1954

मनुस्मृति : संपा० गंगानाथ झा, कलकत्ता, 1920-1929

महाभारत : संपा० वी० एस० सुकथंकर तथा अन्य, पूना, 1927-1933

महाभाष्य : पतन्जलि, संपा० एफ० कीलहार्न, बंबई

मानसोल्लास : सोमेश्वरदत्त, भाग 1-3, बड़ौदा, 1939

मार्कण्डेय पुराण : एफ० ई० पार्जिटर, कलकत्ता, 1888-1905

मालविकाग्निमित्रम् : कालिदास, बंबई, संस्कृत सीरीज, 1889

मुद्राराक्षस : सम्पा० आर० के० ध्रुव, पूना, 1930

मेघदूत : कालिदास, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1940

युग पुराण : काशी प्रसाद जायसवाल द्वारा संपादित, ज० बि० ओ० रि० सो० पटना, भाग-14, पृ०-397-421

याज्ञवल्क्यस्मृति : बंबई, 1936-1944

रघुवंश : कालिदास, संपा० एच० डी० वेलणकर, बंबई, 1948

राजतरंगिणी : कल्हण, सम्पा० एम० ए० स्टाइन, भाग 1-2 वेस्टमिनिस्टर, 1900, वाराणसी, 1961

रामायण : वाल्मीकि, अनु० पी० सी० राय, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1967

लिंगपुराण : संपा० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1885

वराहपुराण : कलकत्ता, 1863

वामनपुराण : संपा० पंचानन तर्करत्न, कलकत्ता, वि० सं० 1314

वायुपुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, 1933

विष्णु पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, 1889

बृहद् धर्मपुराण : डॉ० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित, बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1897

शतपथ ब्राह्मण : संपा० ए० वेबर, 1924

शांखायन श्रौतसूत्र : कलकत्ता 1889

शिवपुराण : कलकत्ता, वि० सं० 1314

शुक्रनीतिसार : शुकदेव, संपा० मिहिरचन्द्र खेमराज, बंबई, सं० 2012

संस्कार प्रकाश : चौखंभा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

साम्बपुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, शाक सं० 1821

सौर पुराण : पूना, 1924

स्कंदपुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई द्वारा पत्राकार रूप में प्रकाशित बंगवासी प्रेस, कलकत्ता द्वारा 7 भागों में प्रकाशित, वं० सं० 1318

हरिवंशपुराण : आर० किंजवदेकर द्वारा संपादित, आ० सं० सी० पूना 1936
पंचानन तर्करत्न द्वारा नीलकण्ठ की टीका के साथ संपादित, बंगवासी प्रेस, कलकत्ता, वं० सं० 1312

हर्षचरित : बाण भट्ट, अनु० कॉवेल तथा टॉमस, कलकत्ता, 1897, पी० वी० काणे, 1918

सहायक ग्रन्थ

अग्रवाल, वासुदेव शरण : कला और संस्कृति, इलाहाबाद, 1952

: कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1970

: पाणिनिकालीन भारतवर्ष, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, वि० सं० 2012

: भारत की मौलिक एकता, इलाहाबाद, सं० 2011

: हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1953

: भारतीय कला, वाराणसी, 1965

: मार्कण्डेय पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन, इलाहाबाद 1963

: मत्स्यपुराण : ए स्टडी, वाराणसी, 1963

: वामनपुराण : ए स्टडी, वाराणसी, 1964

अत्रिदेव विद्यालंकार : प्राचीन भारत के प्रसाधन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी

अली, एस० एम० : द ज्योग्राफी ऑव द पुराणाज, नई दिल्ली

अल्तेकर अनन्त सदाशिव : राष्ट्रकूटाज ऐण्ड देयर टाइम्स, पूना 1967

: द पोजीशन ऑव वोमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, वाराणसी, 1938

: प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, वाराणसी, 1968

: स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन ऐंशेण्ट इण्डिया, बनारस, 1959

अय्यर, शिवस्वामी पी० एस० : इवोल्यूशन ऑव हिन्दू भारत, लेक्चर कलकत्ता, 1935

आयंगर, के० वी० आर : सम आस्पेक्ट्स ऑव ऐंशिएण्ट इण्डियन, पालिटी, मद्रास, 1935

: एस्पेक्ट्स ऑव ऐंशिएण्ट इण्डियन इकानमिक थाट, वाराणसी, 1934

इलियट, सी० : हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, वाल्यूम II, लंदन, 1921

उपाध्याय, अमर मुनि : योगशास्त्र : एक परिशीलन, आगरा, 1963

उपाध्याय, अरुणकुमार : राजशेखर : एक अध्ययन, वाराणसी

उपाध्याय, कृष्णदेव : हिन्दू विवाह की उत्पत्ति और विकास, वाराणसी, 1974

उपाध्याय, बलदेव : अग्निपुराणम्, चौखम्भा, वाराणसी

: कालिकापुराणम्, चौखम्भा, वाराणसी

: पुराण - विमर्श, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1965 तथा द्वितीय संस्करण, 1978

: वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त, चौखम्भा, वाराणसी

उपाध्याय, पुष्करमुनि : जैन धर्म में दान : एक समीक्षात्मक अध्ययन, आगरा, 1977

उपाध्याय, भगवतशरण : कालिदास का भारत, भाग 1 - 2, वाराणसी, 1963 - 1964

गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, लखनऊ, 1969

ओझा, मधुसूदन : पुराण निर्माणाधिकरणम् तथा पुराणोत्पत्ति प्रसंग, जयपुर, सं० 2009

ओमप्रकाश : फूड ऐण्ड ड्रिंक्स इन ऐंशिएण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1961

: पोलिटिकल आइडियाज इन द पुराणाज, इलाहाबाद 1971

: प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, दिल्ली, 1975

: प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, दिल्ली, 1986

कनिंघम, ए : ऐंशिण्ट जोग्राफी ऑव इण्डिया, कलकत्ता, 1924

कमरिकर, आर० डी० : भवभूति

काणे, पी० वी० : धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग 1-5) पूना, 1962-1975

कापड़िया, एच० आर० : ए हिस्ट्री ऑव कैनॉनिकल लिटरेचर ऑव द जैन्स, बम्बई, 1941

कासलीवाल, कस्तूरचन्द्र : राजस्थान के शास्त्र भण्डारों की सूची (भाग 1) मे जयपुर

कीथ ए० बी० : द रिलिजन एण्ड फिलासफी आव द वेद एण्ड उ उपनिषद, हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज, वाल्यूम 31832, 1925

: ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटेचर, आक्सफोर्ड, 1953

: द संस्कृत ड्रामा, आक्सफोर्ड, 1954

कुमारस्वामी, ए० के० : हिस्ट्री ऑव इण्डियन ऐण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, न्यूयार्क, 1965

: इण्ट्रोडक्शन टु इण्डियन आर्ट, दिल्ली, 1969

: कुमारस्वामीज सेलेक्टेड पेपर्स [भाग 1 - 3] संपा० रोजर्स लिप्से न्यूजर्सी [अमेरिका]

के० भुजबल शास्त्री : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग - 7 वाराणसी, 1981 कन्नड़ प्रान्तीय ताड़पत्रीय ग्रंथ- सूची, वाराणसी, 1948

केरफेल डब्ल्यू० : दस पुराण पंचलक्षण, बॉन, 1927 ऐन इंट्रोडक्शन टु इण्डियन हिस्ट्री, बंबई, 1956

कैलाश चन्द्र : जैनधर्म, मथुरा, 1975

: जैन साहित्य का इतिहास [भाग 1 - 2] वाराणसी, वी० नि० सं० - 2502

: जैन साहित्य का इतिहास [पूर्वपीठिका] वाराणसी, वी० नि० सं० - 2489

: दक्षिण भारत में जैन- धर्म, दिल्ली, 1967 जैन न्याय, नई दिल्ली, 1966

कोशाम्बी, डी० डी० : द कल्चर ऐण्ड सिविलाइजेशन ऑव ऐंशिण्ट इंडिया इन हिस्टॉरिकल आउटलाइन, लंदन, 1965

: ऐन इण्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑव इण्डियन हिस्ट्री, बंबई, 1956

गुप्त, परमानन्द : ज्योग्राफी इन ऐंशिण्ट इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स [650 ई० तक], दिल्ली, 1973

गैरोला, वाचस्पति : भारतीय संस्कृति और कला, लखनऊ, 1973

: भारतीय चित्रकला इलाहाबाद

गोपाल, लल्लन जी : इकोनमिक लाइफ ऑव नार्दर्न इण्डिया (700-1200 ई0), दिल्ली, 1965

गोयल, प्रीतिप्रभा : हिन्दू विवाह मीमांसा, स्नायन संस्थान, बौन्दा, 1976

घुर्ये, जी0 एस0 : कास्ट क्लास ऐण्ड अकुपेशन, बम्बई, 1961

घोषाल, यू0 एन0 : बिगिनिंग्स ऑव इण्डियन हिस्टोरियोग्राफी एण्ड अदर एस्सेज

: स्टडीज इन इण्डियान हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, ओरियण्ट लागमैंस, बंबई, 1957

: हिस्ट्री ऑव हिन्दू पब्लिक लाइफ, भाग-1, कलकत्ता, 1945

: ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज, बम्बई, 1959

चकलदार, एच0सी0 : सोशल लाइफ इन ऐंशिएण्ट इण्डियन, कलकत्ता, 1926

: स्टडीज इन वात्स्यायन कामसूत्र, कलकत्ता, 1976

चन्द्र, के0 आर0 : ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ पउमचरिउम, वैशाली, 1970

चन्धारी, आर0 के0 : पोजीशन ऑव ब्राह्मणाज इन ऐंशिएण्ट इण्डिया, पूना, 1960

चौधरी गुलाबचन्द्र : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज (650-1300 ई0) अमृतसर 1963

: जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग- 6, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1973

जैन जॉली, जे0 : हिन्दू ला एण्ड कस्टम (जर्मन से अनुवाद, बी0 के0 घोष) कलकत्ता, 1928

जायसवाल, के0 पी0 : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया

: हिन्दू राजतन्त्र (भाग 1-2) वाराणसी, सं0 2034

: हिन्दू पॉलिटी, कलकत्ता, 1924

जैन, कैलाशचन्द्र : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं, भोपाल, 1971

जैन, कोमलचन्द्र : जैन और बौद्ध आगमों में नारी जीवन, अमृतसर, 1967

जैन, गोकुलचन्द्र : यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, अमृतसर, 1967

जैन, जगदीश चन्द्र : लाइफ इन ऐंशेण्ट इण्डिया ऐज डिपिक्टेड इन कॉनिन्स, बंबई, 1940

: जैन आगम में भारतीय समाज, वाराणसी, 1965

जैन, ज्योतिप्रसाद : जैन सोर्सेज ऑव द हिस्ट्री ऑव ऐंशेण्ट इण्डिया (100 ई0 पू0 से 900 ई0), दिल्ली, 1964

: रिलिजन ऐण्ड कल्चर ऑव जैन्स, दिल्ली, 1977

जैन, प्रेम सागर : जैन भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि, काशी, 1963

जैन, प्रेम चन्द्र : अपभ्रंश कथा-काव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यानक, वाराणसी, 1973

जैन, प्रेम सुमन : कुवलयमाला का सांस्कृतिक अध्ययन, वैशाली (बिहार), 1975

जैन, बलभद्र : जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग 1- 2, दिल्ली, वी० नि० सं० 2500

जैन, बाल चन्द्र : जैन प्रतिमा विज्ञान, जबलपुर, 1974

जैन, भाग चन्द्र : देवगढ़ की जैनकला : एक सांस्कृतिक अध्ययन, नई दिल्ली, 1974

: भारतीय संस्कृति में जैन तीर्थों का योगदान, एटा, 1961

: जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, नागपुर, 1962

जैन, मुनि उत्तम कमल : जैन सेक्टस ऐण्ड स्कूल्स, दिल्ली, 1975

जैन, रतन लाल : जैन धर्म, दिल्ली, 1974

जैन, श्रीचन्द्र : जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, जयपुर, 1971

जैन, हीरालाल : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, भोपाल, 1975

: जैन शिलालेख- संग्रह, भाग 1, बंबई

: संयुक्त प्रांत के प्राचीन जैन स्मारक, इलाहाबाद, 192

ट्वायनबी, ए० जे० : ए स्टडी ऑव हिस्ट्री (इतिहास : एक अध्ययन), भाग 1- 2, लखनऊ, 1966- 67

टाटिया, नथमल : स्टडीज इन जैन फिलासफी, बनारस, 1951

डैरेट, जे० डी० एम० : रिलिजन, लॉ ऐण्ड स्टेट इन ऐंशिण्ट इण्डिया, लन्दन, 1969

त्रिपाठी, आर० पी० : स्टडीज इन पोलिटिकल ऐण्ड सोशियो इकनामिक हिस्ट्री ऑफ अर्ली इण्डिया, इलाहाबाद, 1981, पृ०- 125

त्रिपाठी, श्रीकृष्ण मणि : पुराण तत्वमीमांसा, लखनऊ, 1961

दत्ता, रमेश चन्द्र : लैटर हिन्दू सिविलाइजेशन [500- 1200 ई०] कलकत्ता, 1965

दासगुप्ता, बी० सी० : जैन सिस्टम ऑव एजुकेशन, कलकत्ता, 1942

दीपंकर : कौटिल्य कालीन भारत, लखनऊ, 1968

दुबे, हरि नारायण : पुराण समीक्षा, इलाहाबाद, 1984

देवराज, एन० के० : भारतीय संस्कृति [महाकाव्यों के आलोक में], लखनऊ, 1961

देवेन्द्र मुनि : जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, उदयपुर, 1975

देसाई, पी० बी० : जैनिज्म इन साउथ इण्डिया ऐण्ड सम जैन एपीग्राफ्स, शोलापुर, 1959

दोशी, बेचनदास : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-1, वाराणसी, 1966

नाहर, पी० सी० : जैन लेख-संग्रह, भाग 1-3, कलकत्ता, 1918-29

नाथूराम "प्रेमी" : जैन साहित्य और इतिहास, बंबई, 1956

नेगी, जे० एस० : सम इण्डोलॉजिकल स्टडीज, भाग-1, इलाहाबाद, 196

नेमिचन्द्र "शास्त्री" : आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, वाराणसी, 1968

: आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन : एक अध्ययन, वाराणसी, 1963

: संस्कृत- काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, दिल्ली, 1971

: व्रत तिथि निर्णय, दिल्ली, 1956

नौटियाल, के० पी० : आर्कियोलाजी आफ कुमाँन, चौखंबा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1969

: फोटो हिस्टारिक इण्डिया, आगम कला प्रकाशन, दिल्ली, 1989

पाठक, चिदानन्द : उत्तर भारत का राजनैतिक इतिहास {600-1200 ई०}, लखनऊ, 1977

पाठक, सर्वानन्द : विष्णु पुराण का भारत, वाराणसी, 1967

पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र : स्टडीज़ इन द ओरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, इलाहाबाद 1957

: बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, 1963

: फाउण्डेशन ऑव इण्डियन कल्चर, भाग 1-2, नई दिल्ली, 1984

पाण्डेय, वीणा पाणि : हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन, लखनऊ 1960

पाण्डेय, राजबली : हिन्दू संस्काराज़, बनारस, 1949

: हिन्दू संस्कार, वाराणसी

: हिन्दू धर्म-कोश, लखनऊ, 1978

: सब्जेक्ट इण्डेक्स ऑव द पुराणज़, बनारस, 1957

पाण्डेय, राजनारायण : महाकवि पुष्पदन्त, चिन्मय प्रकाशन, जयपुर-3 1972-1973

पुरी, बैजनाथ : भारत के प्राचीन नगर, लखनऊ, 1947

: इण्डिया इन द टाइम ऑव पतन्जलि, बंबई, 1957

: द हिस्ट्री ऑव द गुर्जर प्रतिहार, बंबई, 1957

पुष्कर, मुनि : जैन धर्म में दान : एक समीक्षात्मक अध्ययन, आगरा

फ्लोट, जे० एफ० : कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डीकेरम, भाग - 3

फूलचन्द्र : वर्ण, जाति और धर्म, काशी, 1963

: जैन तत्व मीमांसा, वाराणसी, वी० नि० सं०, 2488

बदेर, क्लोरसे : वोमेन इन ऐंशिण्ट इण्डिया [मारेल ऐण्ड लिटरेरी स्टडीज], लन्दन, 1925

बसाक, आर० जी० : हिस्ट्री ऑव नार्थ ईस्टर्न इण्डिया, 1934

बासम, ए० एल० : द वॉण्डर दैट वॉज इण्डिया, लन्दन, 1954

: स्टडीज़ इन ऐंशिण्ट इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, कलकत्ता, 1964

बोथरा, पुष्पा : द जैन थ्युरी ऑव परसेप्सन, दिल्ली, 1976

भगवानदीन : सोलह कारण भावना, दिल्ली, 1966

भट्टाचार्य, टी० : ए स्टडी ऑव वास्तुविद्या, पटना, 1947

: ए केनॅन ऑव इण्डियन आर्ट, कलकत्ता, 1963

भण्डारकर, आर०जी० : वैष्णविज्म, शैविज़्म ऐण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पूना, 1929

भागेन्दु, भागचन्द्र : भारतीय संस्कृति में जैन तीर्थों का योगदान, एटा, 1961

भार्गव, दयानन्द : जैन इथिक्स, दिल्ली, 1968

भास्कर, भाग चन्द्र : जैन दर्शन तथा संस्कृति का इतिहास, नागपुर, 1977

मजूमदार, ए० के० : चालुक्याज़ ऑव गुजरात, बम्बई, 1956

मजूमदार, बी० के० : द मिलिटरी सिस्टम इन ऐंशिण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1960

मजूमदार, बी० पी० : सोसियो-इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इण्डिया

मजूमदार, डी० एन० : रेसेज ऐण्ड कल्चर्स ऑव इण्डिया, लंदन, 1935

मजूमदार, आर० सी० : हिस्ट्री ऑव बंगाल, भाग-1, ढाका, 1943

: कारपोरेट लाइफ इन ऐंशिण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1922

: (सं) द ऐज ऑव इम्पीरियल युनिटी, बंबई, 1953

: (सं) द क्लासिकल ऐज, बम्बई, 1954

मजूमदार आर० सी० एवं माधवानन्द : ग्रेट वोमेन ऑव इण्डिया, अल्मोड़ा, 1953

मधुकर मुनि : जैन धर्म को हजार शिक्षायें, ब्यावर (जोधपुर), 1973

महेन्द्र कुमार : जेन दर्शन, वाराणसी, 1966

महतो, मोहनलाल : जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पटना, 1958

मिराशी, वासुदेव विष्णु : लिटरेरी ऐण्ड हिस्टॉरिकल स्टडीज़ इन इण्डोलॉजी, दिल्ली, 1975

: हिस्टॉरिकल डेटा इन दण्डिनाज़ दशकुमार चरित

मिश्र, कमला कान्त : जातकमाला : एक अध्ययन, इलाहाबाद, 1977

मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1983

: ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, 1968

मिश्र, देवीप्रसाद : जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, हिन्दुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद, 1988

मिश्र, बी० बी० : पॉलटी इन द अग्निपुराण, कलकत्ता, 1965

मिश्र, विद्या : वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन, लखनऊ, 1963

मिश्र, शिवनन्दन : गुप्तकालीन अभिलेखों से ज्ञात तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक दशा, लखनऊ, 1973

मिश्र, शिव शेखर : सोमेश्वर कृत मानसोल्लास: एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1966

मिश्र, सुदर्शन : महाकवि पुष्पदन्त और उनका महापुराण, प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली [बिहार], 1987

मुकर्जी, राधाकमल : सोशल फन्क्शन ऑव आर्ट, बंबई, 1948

: द इण्डियन स्कीम ऑव लाइफ, बंबई, 1951

: लैण्ड प्राब्लम ऑव इण्डिया, लंदन, 1933

: ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन सिविलाइजेशन, भाग-1, बंबई।

मुकर्जी, राधा कुमुद : ऐंशिएण्ट इण्डियन एजूकेशन, लंदन, 1947

: द फण्डामेण्टल युनिटी ऑव इण्डिया, बंबई, 1960

मुकर्जी, एस० : जैन फिलासफी ऑव नॉन ऑब्सोल्यूटिज़्म, कलकत्ता, 1944

मुख्तार, जुगुल किशोर एवं शास्त्री, परमानन्द : जैन ग्रंथ प्रशस्ति- संग्रह, भाग-1, सरसवा, भाग-2, दिल्ली, 1963

मुख्तार, जुगल किशोर : जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, कलकत्ता, 1956

: युगवीर निबन्धावली, भाग-1, दिल्ली, 1963

: समीचीन धर्मशास्त्र, दिल्ली, 1955

: स्वामी समन्तभद्र, बंबई, 1925

मुंशी, के० एम० : गुजरात ऐण्ड इट्स लिटरेचर, बंबई, 1954

मेहता, मोहनलाल : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3 व 4 वाराणसी, 1967, 1968

: जैन दर्शन, आगरा, 1959

: जैन कल्चर, वाराणसी, 1969

: जैन धर्म दर्शन, वाराणसी, 1973

: जैन आचार, वाराणसी, 1966

: प्राकृत प्रापर नेम्स, भाग 1 व 2, अहमदाबाद, 1970, 1972

मोती चन्द्र : जैन मिनियेचर प्रिंटिंग सफ्रॉम वेस्टर्न इण्डिया, 194

: भारतीय वेशभूषा, प्रयाग, सं० 2007

: सार्थवाह, पटना, 1953

यादव, ब्रजनाथ सिंह : सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया {12वीं शती} इलाहाबाद, 1973

यादव, झिनकू : समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी 1977

राजेन्द्र मुनि : चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण, उदयपुर, 1976

राधाकृष्णन्, एस० : धर्म तुलनात्मक दृष्टि में, दिल्ली, 1973

: धर्म और समाज, दिल्ली, 1972

: भारतीय दर्शन, भाग 1 व 2, दिल्ली, 1973

: द हिन्दू व्यू ऑव लाइफ, न्यूयार्क, 1948

रानाडे, आर० डी० : कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलासफी, पूना, 1933

रामगोपाल : इण्डिया ऑव वैदिक कल्पसूत्राज़, दिल्ली, 19

राय, उदय नारायण : प्राचीन भारत में नगर तथा नागरिक जीवन, इलाहाबाद, 1965

: हमारे पुराने नगर, इलाहाबाद, 1969

: गुप्त सम्राट् और उनका काल, इलाहाबाद, 1971

: स्टडीज़ इन ऐंशिण्ट इण्डियन कल्चर, भाग-1, इलाहाबाद, 1961

राय, मन्मथ : प्राचीन भारतीय मनोरन्जन, इलाहाबाद, सं० 201

राय, सिद्धेश्वरी नारायण : पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, 1968

: हिस्टॉरिकल ऐण्ड कल्चरल स्टडीज, इन द पुराणाज, इलाहाबाद, 1978

रोलैण्ड, बैंजामिन : द आर्ट ऐण्ड आर्किटेक्चर ऑव इण्डिया : हिन्दू, बुद्धिस्ट ऐण्ड जैन, विक्टोरिया, 1959

ऋषभ चन्द्र, के० : ए क्रिटिकल स्टडी ऑव पउमचरिउम ऑव विमलसूरि अहमदाबाद

लाहा, विमल चन्द्र : हिस्ट्रोरिकल ज्योग्राफी ऑव ऐंशिण्ट इण्डिया, पेरिस, 1954 [अनु० रामकृष्ण द्विवेदी- प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, लखनऊ, 1972]

: इण्डिया ऐज डेस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट्स ऑव बुद्धिज्म ऐण्ड जैनिज्म, लन्दन, 1941

: ज्योग्राफिकल ऐसेज रिलेटिंग टू ऐंशिण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1976

: इण्डोलोजिकल स्टडीज़, भाग-1, कलकत्ता, 1950

वर्मा, गायत्री : कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति, वाराणसी, 1963

वाजपेयी, कृष्णदत्त : उत्तर प्रदेश का सांस्कृतिक इतिहास, आगरा, 1959
: उत्तर प्रदेश की ऐतिहासिक विभूति, लखनऊ, 1957
: भारतीय संस्कृति में मध्य प्रदेश का योग, इलाहाबाद 1967
: ज्योग्राफिकल इन्साइक्लोपीडिया ऑव ऐंशेन्ट ऐण्ड मेडिवल इण्डिया, भाग-1, वाराणसी, 1967

विण्टरनित्ज, एम० : ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग 1-2, नई दिल्ली, 1972

विल्सन, एच० एच० : द विष्णु पुराण : एक सिस्टम ऑव हिन्दू मैथालोजी ऐण्ड ट्रेडीशन, कलकत्ता, 1961

विजयमूर्ति : जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2 व 3, बंबई, वि० सं० 2009, 2013

व्यास, शान्तिकुमार नाथूराम : रामायणकालीन संस्कृति, नई दिल्ली, 1958

शर्मा, आर० एस० : शूद्राज इन ऐंशेन्ट इण्डिया, वाराणसी, 1958
: इण्डियन फ्यूडलिज्म, कलकत्ता, 1965
: भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, 1973
: आस्पेक्ट्स ऑव पोलीटिकल आइडियाज ऐण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐंशेन्ट इण्डिया, दिल्ली, 1959

शास्त्री, के० भुजबली : प्रशस्ति-संग्रह, जैन सिद्धान्त भवन, आरा, 1942

श्रीयन (श्रीमती) रत्ना नागेश : ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ महापुराण ऑफ पुष्पदन्त, लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृत विद्यामन्दिर अहमदाबाद, 1969

संकालिया, एच०डी० : जैन आइकनोग्राफी, बंबई

सरकार, दिनेशचन्द्र : सलेक्ट इन्स्क्रिप्सन्स बियरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड सिविलीजेशन, भाग-2, 1942, 1965
: सोशल लाइफ इन ऐंशिण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1971
: अर्ली इण्डियन पोलिटिकल ऐण्ड एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम, कलकत्ता, 1972
: ट्रेड ऐण्ड इण्डस्ट्री इन ऐंशिण्ट इण्डिया, कलकत्ता,
: अर्ली हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर ऑव द जैन्स, कलकत्ता,
: स्टडीज इन युग पुराण ऐण्ड अदर टेक्स्ट, दिल्ली,
: स्टडीज इन द ज्योग्राफी ऑव ऐंशिण्ट ऐण्ड मेडिवल इण्डिया, दिल्ली, 1960

सव्यसाची : जैनधर्म और विधवा विवाह, दिल्ली, 1931

सिन्हा, वशिष्ठ नारायण: जैन धर्म में अहिंसा, अमृतसर, 1972

स्मिथ : हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट्स इन इण्डिया ऐण्ड सी

स्मिथ, वी० : जैन स्तूप ऐण्ड अदर एण्टीक्यूटीज़ फ्राम मथुरा, इलाहाबाद, 1970

ह्वाइटहेड : साइंस ऐण्ड द माडर्न वर्ल्ड, न्यूयार्क, 1926

ज्ञानी, एस० डी० : अग्नि पुराण : ए स्टडी, वाराणसी, 1964

कोश

इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन ऐण्ड ऐथिक्स : (संपा०) जे० हस्टिंग्स (भाग 1-3) न्यूयार्क, 1908

द इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन : मैरिस ए कन्ने, नाग पब्लीकेशन, दिल्ली, 1976

जैन लक्षणावली : बालचन्द्र शास्त्री (भाग 1-3), वीरसेवा मन्दिर प्रकाशन दिल्ली, 1972

शोध - पत्र - पत्रिकाएँ

अमेरिकन जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी

आवर हैरिटेज

इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली : कलकत्ता

कल्याण : गीताप्रेस, गोरखपुर

गुरुकुल पत्रिका

जर्नल ऑव द गंगा नाथ झा रिसर्च इन्स्टीच्यूट : इलाहाबाद

जिनवाणी : जयपुर

जिनसन्देश : श्री भारतीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा

जैन एण्टीक्वेरी : आरा

जैन जर्नल : जैन भवन पब्लिकेशन, कलकत्ता

जैन साहित्य संशोधक : पूना

जैन भारती (साप्ताहिक) : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता

जैन दर्शन और संस्कृति परिषद् पत्रिका : कलकत्ता

जैन सिद्धान्त भास्कर : आरा

जैन जगत

जैन युग

जैन प्रकाश

जैन सत्य प्रकाश

जैन धर्म प्रकाश

जैन विद्या : सवाई माधवपुर (राजस्थान)

तीर्थंकर : हीरा भैया प्रकाशन, कनाड़िया रोड, इन्दौर

तुलसी प्रज्ञा : जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान)

धर्मदूत

नया जोवन

नागरो प्रचारिणो पत्रिका, वाराणसी

प्रज्ञा

प्रोसोडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस

प्रेम- सुधा

भारतोय विद्या : बम्बई

सम्यग्दर्शन : अखिल भारतोय साधुमार्गीय जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म० प्र०)

हिन्दुस्तानी : हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद

सम्यग्ज्ञान : दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, मेरठ

सन्मतिवाणो : दिगम्बर जैन, मालवा कुंकुम चन्द्र मार्ग, इन्दौर

सन्मति सन्देश : प्रकाश हितैषी शास्त्री, दिल्ली

श्रमण : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

श्रमणोपासक : अखिल भारतोय साधुमार्गीय जैन संघ, बोकानेर

ज्ञानकोर्ति : नन्दकिशोर जैन, ज्ञानकोर्ति, चौक, लखनऊ

संकेतिका

आ० गृ० सू०	:	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आदि०	:	आदिपुराण
आश्वलायन	:	आश्वलायन गृह्यसूत्र
एपि० इंडि०	:	एपिग्रेफिया इण्डिका
कामन्दक	:	कामन्दकीय नीतिसार
कौटिल्य	:	कौटिलीय अर्थशास्त्र
गौतम	:	गौतम गृह्यसूत्र
नारद	:	नारदस्मृति
पद्म ०	:	पद्मपुराण
पाण्डव	:	पाण्डवपुराण
पु	:	पुराण
मनु०	:	मनुस्मृति
महा०	:	महापुराण
शुक	:	शुक्रनीतिसार
हरिवंश	:	हरिवंशपुराण